शुध्दोपयोग

आचार्य विराग सागर

प.पू. आचार्य श्री १०८ विमल सागरजी महाराज

प.पू. आचार्य श्री १०८ सन्मति सागरजी महाराज

प.पू. गणाचार्य श्री १०८ विराग सागरजी महाराज

शुद्धोपयोग

(आगम प्रमाणों सें प्रमाणित एक चिंतनीय महत्वपूर्ण कृति)

: लेखक :

प. पू. गणाचार्य श्री १०८ विरागसागरजी महाराज

: संपादक :

न्यायाचार्य पं. डॉ. दरबारी लालजी कोठिया (बीना)

भूतपूर्व रीडर काशी हिन्दू विश्व विद्यालय,

वाराणसी

: प्रकाशक :

श्री सम्यग्ज्ञान दिग. जैन विराग विद्यापीठ

बताशा बाजार भिण्ड (म.प्र.)

प्रसंग : प. पू. गणाचार्य श्री १०८ विराग सागरजी महाराज ससंघ (४४ पिच्छि) का गुजरात की राजधानी ''गांधीनगर'' में चातुर्मास के पावन अवसर पर

कृति : शुद्धोपयोग

लेखक : परम पूज्य गणाचार्य श्री १०८ विराग सागरजी महाराज

संयोजन : पं. पद्मचन्द जी शास्त्री, कटनी

संपादन : डॉ. दरबारी लाल कोठिया (बीना)

संस्करण : प्रथम २००० बीना (म.प्र.) - 1995,
द्वितीय ५००० नागपुर (महा.) - 2004,
तृतीय २००० गांधीनगर (गुज.) 2009

लागत मूल्य : चालीस रूपये

पुण्यार्जक : श्री पारसकुमार, श्री महावीर प्रसाद, श्री शांतिलाल जैन गोरेगाँव, मुंबई (महा.)

प्राप्तिस्थान : श्री सम्यग्ज्ञान दिग. जैन विराग विद्यापीठ,

बताशा बाजार
भिण्ड (म.प्र.)

मुद्रक : श्री पारस ट्रेडर्स (नीतीन शाह)

अहमदाबाद-गुजरात

मो. : 09427802454

समर्पण

''सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र से विचलित भव्यों के स्थितिकरणार्थ''

तथा

''उन महानुभावों के सुबोध के लिए, जो पक्षाग्रह के व्यामोह से मुक्त है,
तत्त्व के सत्यान्वेषी और पिपासु हैं, मंद कषायी हैं, आर्ष-आचार्यों
द्वारा प्रणीत एवं समागत आगम के वाक्य ही जिन्हें
प्रमाण हैं, जो सदा भव भीरु हैं, मोक्ष के
अनवरत् हार्दिक इच्छुक हैं एवं
यथाशक्य साधक हैं ।''

यह कृति समर्पित है

ॐ नमः ।

धम्मेण परिणदप्पा अप्पाजदि सुद्धसंपयोग जुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्ग सुह ॥
असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियोभवीयणेरइयो ।
दुक्ख सहस्सेहिंसदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं ॥

प्र. सा. मू. ११-१२

अर्थ-धर्म से परिणत आत्मा जब शुद्धोपयोग सहित होता है तब निर्वाण सुख को प्राप्त करता है और जब वह शुभोपयोग से युक्त होता है तब स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है तथा वह आत्मा जब अशुभोपयोग से युक्त होता है तब कुमनुष्य, तिर्यंच और नारकी होकर हजारों प्रकार के दुःखों को प्राप्त करता हुआ संसार में चिरकाल तक भ्रमण करता है ।

प्राक्कथन

चिरकाल से चर्चित चला आ रहा यह विषय "चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता है" कितनों को सुज्ञात एवं अपरिचितों और परिचितों को सनिर्णीत हो सका । जिज्ञासुओं की जिज्ञासा तथा हठवादियों के हठ का विषय बना चला आ रहा है । इसे हम यहां देखने एवं समझने का प्रयास करेंगे ।

किसी भी विषय को लिखना और बोलना उतना कठिन नहीं है जितना कि कठिन उसके सत्य सिद्धांत को कायम रखकर समझना, लिखना या बोलना कठिन है। यह तब तक संभव नहीं, जब तक हम पूर्वाग्रह को नहीं छोड़ते है । पूर्वाग्रह पूर्वक किये गये लेखन, श्रवण, भाषण/प्रवचन कभी भी अपने आप सत्य नहीं हो सकते है। भले ही हम उन्हें अनेक युक्तियों और दृष्टान्तों के द्वारा समझाने की कोशिश करें। यदि युक्ति के अनुसार सिद्धांत या आगम को बदलते है तो निश्चित है कि हम भटक जायेंगे क्योंकि "युक्ति के अनुसार आगम नहीं होता अपितु आगम के अनुसार ही युक्ति होती है" (धवलाजी) आगम और सिद्धांत के समझने के लिए ही युक्ति और दृष्टान्त दिए जाते है ।

यदि हमारे जीवन का मुख्य अंग सत्य हो जाये, तो निश्चित ही हम समस्त पक्ष-व्यामोह से रहित हो सकते हैं । अथवा जैसे-जैसे हमारा पक्ष व्यामोह घटता जायेगा, वैसे - वैसे सत्य प्रकट होता जायेगा । पक्ष और सत्य दोनों एक साथ नहीं रह सकते । पक्ष व्यामोह, सत्य को संकीर्ण और विकृत बनाकर व्यक्ति को सत्य से भ्रमित कर देता है । अतः पक्ष से मुक्त होकर सत्य को समझना चाहिए और उसे ही यहाँ समझने का प्रयत्न करना है । सत्य किसी प्रामाणिक वक्ता के बिना समझा नहीं जा सकता है । अतः वक्ता भी प्रामाणिक होना चाहिए क्योंकि वक्ता के प्रमाणिक होने पर ही उसके वचनों में प्रमाणिकता आती है । जैन दर्शन में वक्ता के मुख्य दो भेद कहे है । एक साक्षात् और दूसरा असाक्षात् या परम्परागत । साक्षात् वक्ता तीर्थंकर, अरहंत परमात्मा हैं तथा असाक्षात् या परम्परागत वक्ता आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी हैं ।

वक्ता के उपर्युक्त ये दो ही प्रकार संभव हैं । शेष सभी वक्ता इन्हीं के अनुसरणकर्ता हैं । अतः उनके जितनें वाक्य मूल आगम से मिलते हैं वे प्रामाणिक हैं, क्योंकि ये वास्तव में अरहंतों व आचार्यों आदि के ही वाक्य हैं । तथा जिनकी प्रामाणिकता जैनाचार्य प्रणीत आगम के मूल श्लोक, गाथा या संस्कृत टीका में नहीं मिलती है वह प्रमाणित नहीं है । इसी दृष्टि को लेकर प्रायः इस लेख में जो भी प्रमाण दिये है वे सभी जैनाचार्यों के हैं और उन्हीं की हिन्दी की गई है अथवा मात्र भाव लिया गया है । आवश्यकता पड़ने पर हमने उसे ही स्पष्ट करने का प्रयास किया है तथा इस बात की पूर्णतः सावधानी रखी है कि कोई भी वाक्य आचार्यों द्वारा प्रणीत आगम वाक्य से बाधित न हो, फिर भी भूल होना संभव है क्योंकि मैं

एक अल्पज्ञ छद्मस्थ हूँ । किन्तु एक वैज्ञानिक सिद्धान्त वाला हूँ अर्थात् विज्ञान का सिद्धान्त यदि प्रेक्टिकल है तो मेरा सिद्धान्त भी जैनाचार्य प्रणीत आगम है । वैज्ञानिक जिस प्रकार कहता है कि जितनी आज तक खोज हुई वह यह है या उसकी परिभाषा यह हैं । आगे विशेष खोज के पश्चात् यदि हमारे द्वारा निश्चित की गई परिभाषा बाधित होती है तो हम उस निश्चित किये गये सिद्धांत को परिवर्तित भी कर सकते है । उसी तरह मेरी भी मान्यता है कि आज तक जिसे पढ़ा, खोजा, समझा या पाया वह यह है । आगे यदि विशेष खोज होने पर और कुछ विशेष मिलता है तो हमें पक्षाग्रह या हठाग्रह नहीं, अपितु पूर्व परिभाषा, लेख या पुस्तक में परिवर्तन भी कर सकते हैं, किन्तु वह कोरी युक्तियों द्वारा नहीं ।

यद्यपि लेख में संस्कृत, प्राकृत या उनके हिन्दी अर्थ में, भाव में शब्द, अक्षर, मात्रा, पद या संदर्भित ग्रंथों के उल्लेख - वाक्यों तथा भाषा संयोजन में त्रुटियाँ संभव है, जिन्हें साधुजन परिमार्जित कर हमें सूचित करेंगे, ताकि, भविष्य में उनका परिमार्जन किया जा सके । यह लेख किसी के आक्षेप हेतु नहीं लिखा गया, किन्तु सत्य दिशा बोध हेतु ही लिखा गया है ।

यदि यह लेख किसी की विचलित श्रद्धा को स्थिर कर परमार्थ में सहायक बनता है तो मैं अपने श्रम की सार्थकता समझता हूँ तथा यदि किसी को अनावश्यक चोट पहुँचती हो तो क्षमाप्रार्थी हूँ, साथ ही **''नहि कृतमुपकरा साधवः विस्मरन्ति''** के अनुसार डॉ. पं. श्री दरबारीलाल जी कोठिया का श्रम सराहनीय है जिन्होंने वृद्ध और अस्वस्थ रहते हुए भी इस ग्रंथ का संपादन किया ।

इनके अलावा भी जिनने इस कार्य में श्रम किया हो उन सभी के लिए मेरा शुभाशीर्वाद है वे भविष्य में भी इसी तरह पारिमार्थिक कार्य करते रहें।

प्रथम व द्वितीय संस्करण विद्वत जनों को कितना रुचिकर हुआ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उनके द्वारा प्रेषित ''समीक्षाऐं'' है जिनके माध्यम से परिमार्जन व परिवर्धन हो सका। एतदर्थ मेरा उन्हें शुभाशीर्वाद है।

आचार्य श्री १०८ विराग सागरजी महाराज

चातुर्मास बीना (इटावा)   ३०/७/९५

दो शब्द

परिशिष्ट में जो शंकाएँ हैं वे हमारी और अपनी है, किन्तु समाधान आगम के हैं। पढ़ने के पूर्व आवश्यक है कि हम पूर्वाग्रह से मुक्त हो पूर्णत: स्वस्थ एवं हलके हो जाये । भले ही वैचारिक मतभेद हो, पर मन-भेद न रहे । अन्यथा समाधान समझ में नहीं आयेगा । एकमात्र कषाय, विद्वेष एवं कलह भावनाएँ ही प्रतिलक्षित होंगी, सत्य नहीं तथा वैचारिक मतभेद भी जिज्ञासात्मक हो, पंथ, पक्ष आदि में दुराग्रहात्मक न हो अन्यथा वह भी मन-भेद ही कहा जायेगा ।

वैचारिक मतभेद यदि यही तक है तो जिज्ञासाभाव संभव है, समाधान संभव है, और उसे समझना भी सरल है, इसमें भगवतवाणी की, धर्म की, गुरुओं की एवं अपनी भी गरिमा कायम रहती है, आपसी प्रेम, मर्यादाएँ एवं भाषा तथा व्यवहार में मृदुता बनी रहती है । ऐसा रहने से भले ही समाधान से तत्कालीन समाधान मिल जाये या नहीं भी, तो भी भविष्य में गुंजाईश बनी रहती है और फिर समाधान के पश्चात् जगता है अपूर्व उपकार । दो स्वतंत्र्य विचारों का एक निर्णायक समाधान देनेवाला जैनाचार्य प्रणीत आगम होता है जिसमें जब पूर्णत: स्पष्ट समाधान मिलते हैं तो फिर ज्ञानी अपनी स्वतंत्र विचारधारा के कोई शेष स्थान नहीं रहने देते हैं । अत: शास्त्र देखकर उन्हें उसी में की जिन-जिनागम व जिनगुरु व जिनधर्म का सम्मान करने का साथ सम्यक् मुमुक्षुपना एवं भव-भीरुता प्रतिलक्षित होती है । आगम के स्पष्ट प्रमाण मिल जाने पर फिर शंका का कोई भी स्थान नहीं रहता और न फिर अपने स्वतन्त्र मत को येनकेन प्रकारेण सिद्ध किया जा सकता है फिर तो आगम सूत्रों (वाक्यों) को दोष श्रद्धापूर्ण पूर्वाग्रह विनीत भाव से छोड़ना ही चाहिए अन्यथा

सुत्तादो जं सम्मं दरि सिज्जंतं जदा ण सद्दहदि ।

सो चेव हवई मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुडि ॥ (गो. जी. मूल. गा. २८)

अर्थात् सूत्र यानि आगम को देखकर तथा समझाये जाने पर भी यदि पूर्वाग्रह को नहीं छोड़ता है तो वह जीव उसी समय से मिथ्यादृष्टि कहलाता है । अत: हे भव्यों ! जिनागम के रहस्य को सम्यक् प्रकार से पढ़ों, जानों, समझों और उसी रूप में श्रद्धा करों ये ही जिनागम की भक्ति है । यदि इस में जो कुछ त्रुटि हो तो वह मेरी है तथा समाधान जिनागम के हैं, विद्वत गण, साधु जन त्रुटियों को जरूर अवगत करायेंगे। ऐसी हम अपेक्षा रखते हैं ।

वी. नि. सं. २५३०

आचार्य विरागसागर

वर्षायोग, कारंजा (लाड़) (महा.)

सम्पादकीय

परम पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री १०८ विराग सागरजी महाराज की प्रस्तुत कृति "शुद्धोपयोग" जब मैंने पढ़ी तो आज के समय में वह बहुत उपयोगी एवं आवश्यक जान पड़ी ।

इसमें प. पू. आचार्य श्री ने आगम प्रमाणों के आधार से उस नये विवाद को निरस्त किया है जो कुछ नई विचारधारा के विद्वानों तथा समयसारीजनों में दृष्टिगोचर होता है । उनका मन्तव्य है कि असंयतसम्यग्दृष्टि (चतुर्थ) गुणस्थान में शुद्धोपयोग/शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है ।

प.पू. आचार्य विरागसागरजी ने आगम प्रमाणों को इसमें उपस्थित कर सिद्ध किया है कि बिना पूर्ण संयम एवं स्वरूपाचरण चारित्र के न केवल असंयत सम्यग्दृष्टि के, अपितु देशसंयत (पंचम) और प्रमत्त संयत (षष्ठ) गुणस्थानों में भी शुद्धोपयोग नहीं होता। अप्रमत्तसंयत (सप्तम) गुणस्थानों से वह आरम्भ होता है।

आचार्य श्री के कथन और उनके द्वारा प्रस्तुत आगम-प्रमाणों का अनुसरण विद्वत्प्रवर पं. दौलतरामजी ने भी विक्रम संवत् १८९१ में रचे अपने 'छहढ़ाला' में किया है । वह इस प्रकार है :-

यां है सकलसंयम चरित, सुनिये स्वरूपाचरण अब ।
जिस होत प्रगटै अपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब ॥
जिन परम पैनी सुबुधि-छैनी, डारि अन्तर भेदिया ॥
वर्णादि अरू रागादितैं, निज भाव को न्यारा किया ॥
निजमांहि निज के हेतु निजकर आपकौं आपौ गहौ ।
गुण-गुणी ज्ञाता-ज्ञान ज्ञेय-मझार कुछ भेद न कहौ ॥
जहाँ ध्यान-ध्याता-ध्येय को न विकल्प वच-भेद न जहां ।
चिद्भाव-कर्म चिदेश कर्ता चेतना क्रिया तहां ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न सुधउपयोग की निश्चल दशा ।
प्रकटी जहां, दृग्-ज्ञान-व्रत ये तीन धा एकै लसा ॥

इन पद्यों में जिस अवस्था का वर्णन किया है वही शुद्धोपयोग (शुद्ध उपयोग) है और वह असंयतों एवं प्रमत्त संयतों के सम्भव नहीं है, वह अवस्था अप्रमत्तसंयत

(सप्तम) गुणस्थान से होती है। इसीलिए उक्त पद्यों के उपरान्त पं. दौलत रामजी ने कहा है कि 'यो चिन्त निज में स्थिर भये तिन अकथ जो आनन्द लहो, सो इन्द्र नाग नरेन्द्र अहमिन्द्र के नाही कहो।' उनका यह कथन उभय श्रेणियों खास कर क्षपक श्रेणी की स्थिति को प्रकट करता है।

आचार्य श्री ने उन आगम वाक्यों को इसमें कई स्थानों पर दिया है जिनमें बतलाया गया है कि आध्यात्मिक दृष्टि से उपयोग के तीन भेद है - १. अशुभोपयोग, २. शुभोपयोग और ३. शुद्धोपयोग। इनमें उन अशुभोपयोग आदि के मिथ्यात्व, सासादन और सम्यक् मिथ्यात्व इन तीन गुणस्थानों में और शुभोपयोग असंयत सम्यग्दृष्टि, देश संयत और प्रमत्तसंयतों के होता है। फलतः शुद्धोपयोग अप्रमत्तसंयतों के होना स्वयं सिद्ध हो जाता है। यह भी ध्यातव्व है कि आदि के दो उपयोग सविकल्प है और तीसरा उपयोग शुद्धोपयोग निर्विकल्प है। इससे वह निर्विकल्प, सप्तम गुणस्थान अप्रमत्त संयत में ही संभव है। एक बात और है, वह यह कि आदि के दो उपयोग सराग ध्यानों से सहित है। पर शुद्धोपयोग में बुद्धि पूर्वक सराग ध्यान नहीं होता। अतः चौथे, पाँचवे गुणस्थानों में चारित्रमोह जन्य मलिनता से रहित शुद्धोपयोग असम्भव है। छठे प्रमत्त संयत गुणस्थान में भी पिच्छी, कमण्डल, शास्त्र और प्रतिक्रमणादि क्रियाओं में संज्वलन कषायजन्यमोह रहने से शुद्धोपयोग की संभावना नहीं है।

पाठकों, विशेषतया चौथे असंयत, पांचवे देशसंयत और छठे प्रमत्तसंयत गुण स्थानों में शुद्धोपयोग मानने वालों से हमारा नम्र निवेदन है कि वे निष्पक्ष से आचार्य श्री की इस महत्त्वपूर्ण कृति का पुनः पुनः अध्ययन करें। हम प. पू. गुरुदेव आचार्य श्री के आभारी है।

चातुर्मास बीना (इटावा)

१४/१२/१९९४ **डॉ. दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य**

प्रस्तुति

किसी भी बात को सिद्ध करना सहज नहीं होता है । हर विषय का प्रतिपादन भी हर किसी के वश की बात नहीं है । किसी भी कार्य की प्रक्रिया तभी बनती हैं जब वह कार्य सुचारु रीति एवं प्रामाणिक तथ्यों पर किया गया हो । **परम पूज्य श्री १०८ आचार्य विरागसागरजी मुनि महाराज** द्वारा लिखित यह **'शुद्धोपयोग'** लेख भी इसी प्रक्रिया पर आधारित है । इसमें आचार्य श्री ने उन तमाम तथ्यों और प्रमाणों को देकर शुद्धोपयोग कहाँ, किसके और किन आचारों के साथ हो सकता है, इसका सप्रमाण प्रतिपादन किया हैं । इसके लिए अनेक ग्रन्थों एवं अनेक आचार्यों के उदाहरण देकर उसे पुष्ट किया हैं ।

आचार्य श्री १०८ विरागसागर जी महाराज ने वर्तमान परिप्रेक्ष्य में कुछ विद्वज्जन ऐसा मानते हैं कि चतुर्थ गुणस्थान में अथवा सिर्फ आत्मा की चर्चा करने मात्र से शुद्धोपयोग बन जाता है, यानी आत्मा में शुद्धता आ जाती है, उनका निराकरण करने के लिए पूर्वाचार्यों के प्रमाण देकर इसका स्पष्टीकरण किया है, कि शुद्धोपयोग का प्रारंभ अप्रमत्त दशा अर्थात् सप्तम गुणस्थान से ही होता है । इसके पहले चौथे, पांचवे, छठवें गुणस्थान में शुद्धात्मा का श्रद्धान और ज्ञान तो है लेकिन तदनुसार जो आत्म-रमणता आत्मा में आत्मा की स्थिरता, जिसे चारित्र कहते है और जिसका दूसरा नाम शुद्धोपयोग है, वह नहीं बनता।

जैन वाङ्मय में पूर्ववर्ती आचार्यों ने बराबर उपयोग का लक्षण, भेद आदि का पूर्ण रीति से वर्णन किया हैं । ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के भेद से उपयोग के दो भेद कर जीव तत्त्व के अस्तित्व की सिद्धि की है । अशुभोपयोग, शुभोपयोग एवं शुद्धोपयोग रूप अध्यात्म और आगम में, जो उपयोग के भेद किये गये हैं वे चारित्र रूप आत्मा की प्रवृत्ति के आधार पर किये हैं । मिथ्यात्व के साहचर्य के साथ आत्मा की जो वृत्ति है वह अशुभोपयोग है ।

सम्यक्त्व के साथ जो परिग्रह एवं प्रमाद रहित आत्मा का उपयोग है वह शुभोपयोग अथवा अशुभोपयोग है एवं सम्यक्त्व सहित अप्रमत्त होकर जो आत्मलीनता है वह शुद्धोपयोग है । इस तरह समस्त उपयोग - विषयक चर्चा आचार्य श्री ने इस लेख में की है ।

हम आभारी है परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विरागसागर जी महाराज के जिन्होंने शुद्धोपयोग के बारे में एवं उसके स्वामी के विषय में हमारी भ्रान्ति को दूर कर हमें सन्मार्ग दिखाया है । इस लेख का अध्ययन कर हमें जो दिशाबोध प्राप्त हुआ है वह इस

प्रकार है मिथ्यात्व सहित जो भी देव, शास्त्र, गुरु का पूजन, व्रत, तप एवं संयम का आचरण है वह शुभ योग है एवं बंध का कारण है । किन्तु सम्यक्त्व सहित जो व्रत, नियम, संयम का आचरण होता है वह पुण्यास्रव एवं संवर का कारण है वह शुभोपयोग है ।

पूज्य आचार्य श्री ने अपना अमूल्य समय देकर नयों एवं शुद्धोपयोग की चर्चा की हैं तथा विषय का यथार्थ निरूपण कर जैन वाङ्मय की जो सेवा की वह अनिर्वचनीय है । आप एक उत्साही एवं कर्मठ व्यक्तित्व से संपन्न संत हैं । इस लेख को पढ़कर तथा उसमें संग्रहीत सामग्री को देखकर पाठक जन स्वंय जान लेंगे कि आचार्य श्री ने कितनी लगन से सिद्धांत ग्रंथों का पारयण एवं अवलोकन कर उनमें से शुद्धोपयोग विषयक नवनीत निकाला एवं अमृत सार प्रस्तुत किया, जिसे पढ़कर भक्तजनों का मस्तक श्रद्धा से आचार्य श्री के चरणों में झुक जाता हैं।

परम पूज्य आचार्य श्री ने संयोजन का कार्य जो मुझे देकर माँ जिनवाणी की सेवा का अवसर प्रदान किया उसके लिए मैं अत्यंत अनुग्रहीत हूँ । मैं आपके उभय रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि की निरन्तर कामना करता हूँ ।

पूर्वाचार्यों के चिंतन के आधार एवं मान्य आगम और आध्यात्मिक ग्रन्थों के उदाहरणों से आचार्य श्री ने शुद्धोपयोग विषयक हम सभी की भ्रान्ति का निराकरण किया । अत: आचार्य श्री १०८ विरागसागर जी महाराज के चरणों में विनम्र त्रिकाल नमोस्तु निवेदन करता हूँ । मंगलं भूयात् ।

प्राचार्य - जिनवाणी का विनम्र सेवक

श्री शांति निकेतन जैन, संस्कृत विद्यालय, पं. पद्मचन्द्र जैन

कटनी (म.प्र.) सिद्धांत शास्त्री

प्रस्तावना

परमपूज्य आचार्य विरागसागरजी महाराज न केवल अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी एवं प्रखर तपस्वी युवामुनि हैं, अपितु उन्होंने भिलाई चातुर्मास में उपहरण का घोर उपसर्ग क्षमाभावपूर्वक सहन कर ''उपसर्गविजेता'' की ख्याति भी अर्जित की हैं।

आचार्य श्री की लेखनी से अनेक ग्रंथ प्रसूत हुए हैं, जिनमें शुद्धोपयोग नवीन कृति है । शुद्धोपयोग, मोक्ष का निश्चय मार्ग है, किन्तु शुभोपयोगरूप, व्यवहार मोक्षमार्ग का अवलम्बन किये बिना उसकी सिद्धि असंभव है । आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने तत्त्वार्थसार में कहा भी हैं -

निश्चयव्यवहाराभ्यांमोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।

तत्राद्य साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥

अर्थ - निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा मोक्षमार्ग के दो पक्ष हैं । इनमें निश्चयपक्ष साध्य है और व्यवहारपक्ष उसका साधक ।

तात्पर्य यह कि निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग में साध्यसाधकभाव है । मोक्ष के साधक को पहले शुभोपयोगरूप व्यवहारमोक्षमार्ग का ही अवलम्बन करना पड़ता है । उसके अभ्यास से साधक शुभोपयोग की उस चरम सीमा पर पहुँच जाता हैं, जहाँ पहुँचकर उसमें शुद्धोपयोग के अवलम्बन की सामर्थ्य आ जाती है । वहाँ पहुँच कर वह शुद्धोपयोग का अवलम्बन करता है, तब शुभोपयोग स्वतः छूट जाता है । इस प्रकार शुद्धोपयोग रूप निश्चय मोक्षमार्ग पर चलने की योग्यता हासिल करने के लिए व्यवहार मोक्षमार्ग अत्यन्त उपादेय है ।

इन दोनों प्रकार के मोक्षमार्गों का सफलतापूर्वक अवलम्बन तभी हो सकता हैं, जब इनके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो । व्यवहारमोक्षमार्ग के विषय में तो श्रावकों को अधिक भ्रांतियाँ नहीं हैं, किन्तु शुद्धोपयोगरूप निश्चयमोक्षमार्ग के विषय में अधिकांश श्रावकों की बुद्धि भ्रान्तियों से ग्रस्त हैं । इन भ्रान्तियों को दूर करने तथा निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग के पारस्परिक साध्यसाधकभाव को हृदयंगम कराने के प्रयोजन से आचार्यश्री ने प्रस्तुत ग्रंथ की रचना की हैं, जो भव्यों के लिए स्वागत योग्य हैं ।

ग्रंथलेखक ने शुद्धोपयोग शब्द का व्याकरणिक विश्लेषण कर उसके अर्थ को बुद्धिगम्य बनाने का प्रयास किया है। योग और उपयोग की कथंचित्- भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता के अनेकान्त पर भी समीचीन प्रकाश डाला है। उनके लक्षणों और

भेदों की भी विस्तार से मीमांसा की है । उपयोग के ज्ञानदर्शनात्मक तथा अनुष्ठानात्मक दोनों रूपों का खुलासा किया गया है । वस्तु तत्त्व के निरुपण की आगमशैली और अध्यात्मशैली का दिग्दर्शन कर दोनों के द्वारा प्रतिपादित वस्तुस्वरूप में अविरोध की प्रतीति करायी गयी है । आगमनयों और अध्यात्मनयों के बहुभेदों को सारिणी में निबद्ध कर एक दृष्टि में हृदयंगम बनाने का प्रयास मनोवैज्ञानिक है। इन नयों के सोदाहरण लक्षण प्रतिपादित कर जिज्ञासुओं का महान् उपकार किया गया है ।

ग्रंथकर्ता आचार्यश्री ने पुण्य की हेयोपादेयता और उसके मोक्षोपयोगी फलों की भूमिका रेखांकित कर पुण्य के प्रति जो ऐकान्तिक घृणा उत्पन्न की जा रही है, उसका सफलतापूर्वक निराकरण किया हैं । प्रवचनसार की नौवीं गाथा की तात्पर्यवृत्ति के आधार पर विभिन्न गुणस्थानों में अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के स्वामियों का वर्णन कर इस भ्रान्ति का उन्मूलन किया है कि चतुर्थ गुणस्थान में भी शुद्धोपयोग होता है । शुद्धोपयोग केवल श्रमण को होता है, वह भी सप्तम गुणस्थान से आरम्भ होता है ।

आचार्य श्री ने समयसार और प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्तियों के आधार पर यह बात भी स्पष्ट की हैं कि कदाचित् मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी के मन्दोदय में मिथ्यादृष्टि जीव भी शुभोपयोग परिणत होता है। उसका शुभोपयोग भोगाकांक्षानिदानपूर्वक भी होता है और सम्यग्दर्शन तथा मोक्ष की आकांक्षापूर्वक भी, मिथ्यादृष्टि आखिर शुभोपयोग के द्वारा ही तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करता है।

आचार्य श्री विरागसागरजी ने आचार्य अमितगति के इस कथन की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया हैं कि शुभ और अशुभ उपयोग से ही जीव के योग शुभ-अशुभ होते हैं, अत: ऐसा कभी नहीं हो सकता कि जीव का उपयोग तो अशुभ हो, किन्तु योग शुभ हो । (योगसार, श्लोक ३/१) ।

इस प्रकार प्रस्तुत शुद्धोपयोग ग्रंथ योग और उपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग तथा निश्चय और व्यवहार के विषय में प्रचुर जानकारियों से भरा हुआ है । ग्रंथ की रचना कर आचार्य श्री ने मुनियों और श्रावकों का बड़ा उपकार किया हैं । ग्रंथ श्रद्धापूर्वक पठनीय है । नमोऽस्तु !

प्रो. रतनचंद जैन
अ/२ मानसरोवर, शाहपुर,
भोपाल (म.प्र.)

सुवृत्तं ग्राह्यं ....

आखिर परिणाम तो दोनों का समान है । पाइये या खाईये । मादकता ही उसका प्रतिफल है । कनक को महिमा मंडित करने के लिए उसकी इतनी विशेषता पर्याप्त है । कनक (स्वर्ण) को पानेवाला विवेक शून्यता के शिखर पर पहुँचकर मद से कुचालें भरने लगता है तो खानेवाला (कनक =धतूरा) उन्मत्तता की गलबहियां ... करके बेहोशी के अंक में समा जाता है । तो क्या इस भय से इनका परित्याग कर दिया जाय ? कवि के शब्दों में तो कुछ ऐसा ही है ।

कनक कनक तें सौ गुनी मादकता अधिकाय ।

जा पाये वौरात नर वा खाये मदछाय ॥

लेकिन विवेक बुद्धि का तकाजा है कि जीवन की सार्थकता के हित में इनका परिष्कृत रूप में प्रयोग तो किया ही जा सकता है। औषधीय प्रयोग से जीवन रक्षा तथा जनकल्याण परमार्थ में धन का विनियोजन करके इसके मादकता के कलंक को धोया जा सकता है। हमारे जीवन को संतृप्त करने वाली एक कनक (अनाज चूर्ण) भी तो है। क्यों न कनक को कनक का रूप प्रदान कर समाज और राष्ट्रों को संतृप्ति के रूप में उसे हम बदल लें। हाँ, ऐसा करने की हमारे मन में अदम्य जिजीविषा होना चाहिए। समाज के गौरव बाल मन अपने अंकुरण के पोषक तत्त्व के रूप में विवेक बुद्धि का प्रयोग करते हुए हिताहित की सटीक पहचान कर सकें और सांस्कृतिक विकृति के वातावरण में कनक को कनक के रूप में धर्म शब्दावलियों को दया, क्षमा और समता के रूप में ग्रहणकर समाज एवं राष्ट्र की सुवासित बगिया बन जाय। इसी पवित्र भावना से प.पू. आचार्य श्री विरागसागरजी महाराज ने सर्व जनहितार्थ की भूमिका के रूप में अभी तक पचास से अधिक पुस्तकें लिखकर हमें संबल प्रदान किया है। बाल विज्ञान, चैतन्य चिंतन, सम्यग्दर्शन आदि पुस्तकें जो प्राथमिक अभ्यासीजनों को अमृत तुल्य हैं तो शुद्धोपयोग, कर्म विज्ञान जैसे आगम नवनीत भी प्रबुद्धजनों के हितार्थ प्रस्तुत हैं। आशा है आबाल वृद्ध सभी पूज्य आचार्य श्री जी की लेखनी से प्रसूत आत्मविशुद्धकारी पुस्तकों का सम्यक् अध्ययन कर धर्म मर्यादाओं को भलीभांति जानकर तदनुरूप अपने आचरण से समाज और राष्ट्र के शिरमौर बनकर आज के विषाक्त वातावरण को सुवासित कर सकेंगे, साथ ही, अपने जीवन को कनक के मादक अर्थ से सदैव बचाते रहेंगे । यदि किञ्चित् भी ऐसा हो सका तो समझना की कनक कि सार्थक व्याख्या करने में वीर प्रभु की देशना काम आई ।

कनक कनक ते सौ गुना फल दायक उपकार ।

वीर प्रभु की देशना ज़ग जन हित उपहार ।

शुद्धोपयोग का यह द्वितीय संशोधित संस्करण आत्मार्थी पाठकों के हाथों में समर्पित है । इसमें जिज्ञासुओं के मन में उभरती शताधिक शंकाओं का आगम सम्मत समाधान प्रस्तुत करते हुए आचार्य श्री जी ने शास्त्राभ्यासियों को चिन्तन परक नई दिशा प्रदान करने की चेष्टा की है । अब उनके मूल्यांकन में छिपी प्रेरणा शक्ति ही हमारा भविष्य का मार्ग प्रशस्त करेगी । अलवत्ता दृष्टिकोण पूर्वाग्रह से उन्मुक्त अवश्य हो, ऐसी आशा है । योगीजनों द्वारा अनुभवगम्य विषय वस्तु को वाणी प्रदान करने का यह अल्प प्रयास सद्मार्ग अन्वेषकों को किञ्चित् भी प्रकाश पुंज का काम कर सका तो समझेंगे कि हमारा यह प्रयास सार्थक हुआ ।

इसे पाठकों तक पहुँचाने में मुद्रक, प्रकाशक तथा पुण्यार्जक भव्य बन्धुओं का अविस्मरणीय सहयोग सदैव साधुवाद का पात्र रहेगा । पाठकों के चिर ऋणी तो हम हैं ही, हर कदम पर वे हमारे संबंल ठहरे ।

सुवृत्तं ग्राह्यं-गुण ग्रहण करने की हमारी नीति भी उन्हीं की देन हैं ...

अस्तु ।

गुरुचरणसेवक

धन्यकुमार राजेश

पर्युषण पर्व, वी.नि.सं. २५३०

देश के विभिन्न मूर्धन्य विद्वानों के समीक्षात्मक अभिमत

'शुद्धोपयोग' लेख पढ़ा ठीक है, आगमानुसार है, प्रमाण भी सर्वत्र दिये हैं।

यदि सम्यग्दृष्टि के शुद्धोपयोग कहीं लिखा भी गया है तो वह आंशिक (अनंतानुबंधी संबंधी) राग के अभाव से लिखा गया, पर उस राग की अनुपस्थिति में वह शुद्धोपयोगी नहीं शुभोपयोगी ही है ।

"शुद्धे आत्मनि उपयोग:" मात्र विचार के समय इस लक्षण (व्युत्पत्ति) को कहा जाता है अथवा अनंतानुबंधी राग रहित होने से आंशिक वीतराग मान लिया जाता है । पर आगम में सातवें से ही शुद्धोपयोग कहा है । आपने अभिप्राय ठीक पकड़ा।

– पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी (म.प्र.)

शुद्धोपयोग के एक पत्र द्वारा लिखित "शुद्धोपयोग" नामक पुस्तक अशुद्धोपयोगी (समीक्षक) को प्राप्त हुई तो मैने शुद्ध (स्पष्टत:) उपयोग (ज्ञान, मन) इसी रचना में लगाकर पढ़ा ।

में एसी कृति की वर्षो से बाट जोह रहा था कि कोई लिखे, इतने में इस प्रकार विचारित कार्य की सहसा पूर्णता अवलोकित कर अत्यंत प्रसन्न हुआ ।

इसमें जो प्ररूपणा का लक्षण है वह अत्यंत पवित्र है तथा सत्य है वस्तुत: "शुद्धोपयोग" छठे गुणस्थान से लेकर पूर्व के गुणस्थान में नहीं होता, इस पर विशद तथा समस्त शास्त्रों के आलोकन पूर्वक मौलिक प्ररूपणा जैन गजट दि. २३.११.६७ जैन संदेश १२.६.५८, ९.५.७५ जैन गजट १५.२.७३, १६.१.६९, १७.१.७३ आदि स्थलों पर युग पुरुष, परम मुनिभक्त रतनचंद मुख्तार ने भी की थी।

प्रस्तुत पुस्तक "शुद्धोपयोग" वास्तव में एक प्रमाणिक पुस्तक है । मैं इसकी राराहना करता हूँ । डॉ. दरबारी लाल जी कोठिया न्यायाचार्य द्वारा संपादित होना इसका गौरव बहुत बढ़ा देता है ।

मैं पूज्य निर्विकार, सौम्यमूर्ति, धर्मधुरा, जलवत स्वच्छ, वायु के समान निर्लेप, धर्ममूर्ति लेखक (श्री १०८ आचार्य विराग सागरजी महाराज) की इस कृति के लिए भक्ति सहित प्रशंसा करता हूँ। पुनश्च निम्न बातें भी पाठक को ध्यान में रख लेना चाहिए।

जो यह कहते हैं कि चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरण तो होता है क्योंकि अनंतानुबंधी ही स्वरूपाचरण को घातती है अतः उसके अभाव में चतुर्थ गुणस्थान में स्वरूपाचरण (शुद्धोपयोग) मान लेना चाहिए ? इसका समाधान यह है कि -

(१) किसी भी आचार्यों ने अनंतानुबंधी के अभाव में स्वरूपाचरण होना नहीं बताया/अनंतानुबंधी का कार्य स्वरूपाचरण का प्रतिबंध करना न होकर यह कार्य है, कि अनंतानुबंधी कषाय अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के उदय प्रवाह को अनन्त साधती है । इसलिए चारित्र में अनंतानुबंधी के व्यापार का निष्फलपना भी सिद्ध नहीं होता । (धवला ६/४३)

(२) चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र गुण का क्षायोपशमिक भाव ही नहीं है। (घ. ४/२०१)

(३) चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र भी नहीं है (उत्तर पुराण ७४/५४३ तथा गो.जी. १० चारित्रं)

(४) यदि अनंतानुबंधी के अभाव में चौथे गुणस्थान में स्वरूपाचरण (शुद्धोपयोग) माना तो मिथ्यात्वी (अनंतानुबंधी विसंयोजक) के भी स्वरूपाचरण अनिष्ट प्रसंग को प्राप्त होगा। अतः अनंतानुबंधी का ऐसा कार्य मानना अनुचित है। इस प्रकार चतुर्थ गुणस्थान में श्रेष्ठ परमागमों से सिद्ध है कि शुद्धोपयोग नहीं होता।

परम पूज्य आचार्य विराग सागर जी के चरणों में विनम्र प्रणति.

-सिद्धान्त शास्त्री प. जवाहरलाल, भिण्डर १२.५.९६

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विराग सागर जी द्वारा लिखित और आदरणीय दरबारी लालजी कोठिया के द्वारा संपादित ''शुद्धोपयोग'' नामक पुस्तक मिली । आचार्य महाराज ने शुद्धोपयोग विषय पर सप्रमाण विवेचन किया है । आशा है विद्वज्जन इसे सुरुचि से पढ़ेंगे ।

- पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

पूज्यनीय श्री १०८ आचार्य विराग सागर जी द्वारा लिखित ''शुद्धोपयोग'' पुस्तक प्राप्त हुई । आचार्य महाराज ने आगम प्रमाण देकर सिद्ध किया है, कि शुद्धोपयोग अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक के संभव नहीं है । गुणस्थानों के अनुसार अशुभ, शुभ और शुद्धोपयोग का वर्णन करते हुए प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में जयसेन स्वामी ने स्पष्ट लिखा हैं कि प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थान में तारतम्यता से लिए हुए अशुभोपयोग होता है उसके अनंतर ४, ५ और ६ गुणस्थान तक शुद्धोपयोग

का साधक शुभोपयोग होता है और उसके बाद ७-१२ गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता तथा १३-१४ वें गुणस्थान में शुद्धोपयोग का फल होता है इसी कथन का समर्थन प्रकृत पुस्तक में किया गया है ।

परम पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री १०८ विराग सागर जी महाराज की प्रस्तुत कृति 'शुद्धोपयोग' जब मैंने पढ़ी तो आज के समय में वह बहुत उपयोगी एवं आवश्यक जान पड़ी ।

इसमें परम पूज्य आचार्य श्री ने आगम के आधार से उस नये विवाद को निरस्त किया है, जो कुछ नई विचारधारा के विद्वानों तथा समयसारी जनों में दृष्टिगोचर होता था उनका मन्तव्य है कि असंयत सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ) गुणस्थान में शुद्धोपयोग/शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है ।

पूज्य आचार्य श्री ने आगम प्रमाणों को इसमें उपस्थित कर सिद्ध किया है कि बिना पूर्ण संयम एवं स्वरूपाचरण के न केवल असंयत सम्यग्दृष्टि के अपितु देशसंयत (पंचम) और प्रमत्त संयत (षष्ठम) गुणस्थानों में भी शुद्धोपयोग नहीं होता । अप्रमत्त संयत गुणस्थान से ही वह आरंभ होता है ।

पाठकों से हमारा नम्र निवेदन है, कि वे निष्पक्ष भाव से आचार्य श्री की इस महत्त्वपूर्ण कृति का पुनः पुनः अध्ययन करें ।

हम परम पूज्य आचार्य गुरुदेव के आभारी हैं ।

- न्यायाचार्य पं. दरबारीलाल कोठिया - बीना /१४-१२-९४

'शुद्धोपयोग' ग्रंथ जिज्ञासु श्रावकों के लिए एक उपयोगी ग्रंथ है ।

-पं. वंशीधर व्याकरणाचार्य--बीना

परम पूज्य आचार्य श्री विराग सागर जी महाराज ने 'शुद्धोपयोग' नामक जो कृति प्रस्तुत की है वह महत्त्वपूर्ण होने के साथ ही प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के लिए पठनीय एवं मननीय है ।

आचार्य श्री ने इस कृति में ३१५ (टिप्पणों को आगम) ग्रंथों से जो उद्धरण दिये हैं वे इस बात को प्रमाणित करते हैं कि आचार्य श्री का आगम ज्ञान कितना विशाल है और उनके लेखन का आधार कितना ठोस है आचार्य श्री का यह कथन सर्वथा सत्य है कि शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थान से पहले नहीं होता है ।

इस पुस्तक में अनेक विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है । यह पुस्तक अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है । जैन समाज के मूर्धन्य विद्वान डॉ. दरबारीलाल जी कोठिया ने

इस पुस्तक का संपादन किया है । इससे इस पुस्तक का महत्त्व और भी बढ़ गया है । मैंने इस पुस्तक का मनोयोग पूर्वक स्वाध्याय किया और इससे मुझे अनेक विषयों की प्रमाणिक जानकारी मिली ।

ऐसी उपयोगी पुस्तक के लेखक आचार्य श्री का जैन समाज पर बड़ा भारी उपकार है । उन्होंने इस कृति के द्वारा वर्तमान में प्रचलित अनेक भ्रांतियों का निराकरण किया है। अत: यह पुस्तक प्रत्येक मुमुक्षु के लिए पठनीय, मननीय और संग्रहणीय है।

-उदयचंद जैन सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी - २५.५.९६

परम पूज्य आचार्य श्री विराग सागर जी महाराज की पुस्तक 'शुद्धोपयोग' प्राप्त हुई, पढ़ी, पुस्तक उपयोगी है और अध्ययन पूर्वक लिखी गई है । इसमें अप्रमत्त (विरत नामक) सातवें गुणस्थान से ही शुद्धोपयोग सिद्ध किया गया है प्रवचनसार एवं वृहद् द्रव्य संग्रह टीका आदि के आधार पर उचित है ।

किंतु अविरत सम्यग्दृष्टि के 'शुद्धात्मानुभूति (शुद्धोपयोग) के प्रमाण' नामक पुस्तक मुनिराज वीर सागर जी द्वारा लिखित जयपुर से प्राप्त हुई जो विपरीत अर्थ एवं भ्रांति उत्पन्न करने वाली है ।

-संहितासूरी प. नाथूलाल शास्त्री, इंदौर (म.प्र.)
२४.५.९६

बहुत समय से जैन समाज यह अनुभव कर रहा था कि शुद्धोपयोग किसे होता है ? चतुर्थ गुणस्थान वर्ती को या सप्तम गुणस्थानवर्ती को । इस संशय के झूले में झूल रहा था और झूलने की दशा में विद्वानों का अथवा सामाजिकों का विचार स्थिर न होने से दृढ़ श्रद्धा बिना सम्यग्दर्शन की उपलब्धि नहीं होती तदुपलब्धि के बिना आत्म कल्याण नहीं होता इस दिशा में मार्ग दर्शन होना अत्यावश्यक है ।

इस आत्म कल्याण अथवा विश्व कल्याण की पावन भावना को लक्ष्य में रखकर, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, बालयोगी पूज्य श्री १०८ आचार्य विराग सागर जी तपस्वी द्वारा आगम परम्परा का अध्ययन, मनन, शिक्षण और वाचना कर सानुभव इस शुद्धोपयोग ग्रंथ का निर्माण किया गया है ।

यह ग्रंथ शब्दों की अपेक्षा लघु होते हुए भी अर्थ की अपेक्षा गंभीर है इसमें पूर्वाचार्य प्रणीत आगमों के ३१५ प्रमाणों के उद्धकरण देकर ग्रंथ के नाम को सार्थक सिद्ध किया है ।

सदा से ही आचार्य, उपाध्याय और दिगंबर साधुओं द्वारा देश की समाज का स्थितिकरण, संबोधन एवं जागरण होता रहा है । इसी परंपरा में पूज्य आचार्य विराग सागर जी ने प्रकृत ग्रंथ को लिखकर समाज के लिए विशेष संबोधन एवं स्थितिकरण किया है ।

स्वाध्यायी बंधुओं से सप्रेम निवेदन है, कि वे जिज्ञासाभाव से 'शुद्धोपयोग' ग्रंथ का स्वाध्याय करें पुनरपि आपके हृदय में कोई शंका का उदय हो जाए तो आप श्री १०८ आ. विराग सागर जी के सान्निध्य में उस शंका का शीतल समाधान प्राप्त कर निशंक भाव को अपनावें ।

-दयाचंद साहित्याचार्य, श्री गणेश दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय
लक्ष्मीपुरा (मोराजी) सागर. ६.६.९६

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विरागसागर जी महाराज ने 'शुद्धोपयोग' नाम पुस्तक लिखी है उसकी वर्तमान में अत्यंत आवश्यकता थी क्योंकि इस समय मात्र द्रव्यानुयोग का अध्ययन करनेवाले कुछ महानुभाव चतुर्थ गुणस्थान में ही शुद्धोपयोग होना मानने लगे है जिससे बड़ा अनर्थ हो रहा है । जबकि करणानुयोग आत्मा की अशुद्ध दशा का, इसके होने के कारणों का वर्णन पूर्वक उसके शुद्ध करने के कारण बतलाकर शुद्ध दशा प्राप्त करने की प्रेरणा देता है ।

आचार्य श्री ने इस छोटी सी पुस्तक के द्वारा आत्म शुद्धि का मार्ग प्रमाणित कर दिया है । अनेक आर्ष ग्रंथों का अध्ययन एवं मनन कर इसको गूंथा है जिससे आत्म हितेच्छुकजनों को साधारण परिश्रम द्वारा ही हित का मार्ग प्रशस्त होगा, अनेक ग्रंथों का अध्ययन नहीं करना पड़ेगा ।

आध्यात्मिक नय एवं आगमिक नयों का विशेष विवेचन कर समझने वालों को सरलता प्रदान की है ।

सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि के पुण्य के दो विभाग कर प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की भावना जाग्रत कर दी है ।

पूज्य श्री की उत्कट भावना रहती है कि प्रत्येक व्यक्ति आत्म कल्याण के समीचीन मार्ग को जानकर आत्म हित करे अज्ञानतावश पक्ष व्यामोह में पड़कर आत्मा को पतित न बनावें। पक्ष व्यामोह में सत्य की खोज नहीं हो सकती, निष्पक्ष दृष्टि से सर्व अनुयोगों का अध्ययन करने से ही समीचीन मार्ग मिलता है।

पुस्तक का उपसंहार लिखकर पूज्य श्री ने सर्व साधारण को सरलता दी है।

मुझे आशा ही नहीं किंतु पूर्ण विश्वास है, कि आत्म हितेच्छुक जन इस पुस्तक का अच्छी तरह अध्ययन कर आत्म हित के मार्ग में लगेंगे अंत में उत्कट भावना भाता हूँ कि पूज्य श्री चिरकाल तक इसी तरह हम सब भव्य जीवों को उपदेशामृत का पान कराते हुए अपने अंतिम लक्ष्य को प्राप्त करें ।

-पं. परमानंद काव्यतीर्थ, शाहगढ़ (सागर) म.प्र.

किसी भी बात को सिद्ध करना सहज नहीं होता है । हर विषय का प्रतिपादन हर किसी के वश की बात नहीं है । किसी भी कार्य की प्रक्रिया तभी बनती है जब वह कार्य सुचारु रीति से एवं प्रमाणिक तथ्यों पर किया गया है । परम पूज्य १०८ श्री आचार्य विराग सागरजी मुनि महाराज द्वारा लिखित यह 'शुद्धोपयोग' लेख भी इसी प्रक्रिया पर आधारित है । इसमें आचार्य श्री ने उन तमाम तथ्यों और प्रमाणों को देकर शुद्धोपयोग कहा, किसके और किन आचारों के साथ हो सकता है, इसका सप्रमाण प्रतिपादन किया है । इसके लिए अनेक ग्रंथों एवं अनेक आचार्यों के उदाहरण देकर उसे पुष्ट किया है ।

इस लेख का अध्ययन कर हमें सम्यक् दिशाबोध प्राप्त हुआ है ।

पूज्य आचार्य श्री ने अपना अमूल्य समय देकर नयों एवं शुद्धोपयोग की चर्चा की है तथा विषय का यथार्थ निरुपण कर जैन वाङ्मय की जो सेवा की वह अनिर्वचनीय है आप एक उत्साही एवं कर्मठ व्यक्तित्व से सम्पन्न संत है । इस लेख को पढ़कर तथा उसमें संग्रहीत सामग्री को देखकर पाठक जन स्वयं जान लेंगे कि आचार्य श्री ने कितनी लगन से सिद्धान्त ग्रंथों का अध्ययन एवं अवलोकन कर उसमें से शुद्धोपयोग विषयक नवनीत निकाला एवं अमृतसार प्रस्तुत किया जिसे पढ़कर भक्तजनों का मस्तक श्रद्धा से आचार्य श्री के चरणों में झुक जाता है।

- पं. पद्मचंद जैन

सिद्धान्त शास्त्री,

कटनी

प्रस्तुत कृति में किसी पक्ष अथवा विपक्ष का प्रतिपादन नहीं है, अपितु विषय का विशुद्ध तथा निष्पक्ष निरुपण किया गया है ।

आधुनिक अनुसंधान पद्धति से मनीषी (आचार्य) मुनि श्री ने विषय का प्रतिपादन किया है। विवेचन को आगम के वातायन से प्रकाशित और प्रमाणित किया गया है। विवेच्य कृति में लेख के गंभीर अध्ययन तथा मौलिक मूल्यांकन की मुख्यता मुखर ही उठी है।

विवेच्य अनुशीलन में आगम अभिप्राय को शाकाहारी भाषा में अभिव्यक्त किया गया है। जैन दर्शन पर अनुसंधान करने वाले अनुसंधित्सुओं के लिए इस प्रकार के अध्ययन की उपयोगिता असंदिग्ध है ।

वरिष्ठ विद्वान डॉ. दरबारीलाल जी कोठिया ने कृति का निर्दोष संपादन एवं विचार प्रधान संपादकीय लिख कर इसकी शक्ति और श्री में अभिवर्द्धन किया है । इस प्रकार के उपयोगी अध्ययन अवश्य लिखे जाने चाहिए ।

– विद्यावारिधि डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया
एम.ए., पी. एच.डी., डी.लिट्
(निर्देशक : जैन शोध अकादमी)

शुद्धोपयोग पुस्तकस्य 'यथा नाम तथा गुण:' एवं शुद्ध उपयोग: कस्य कदा कीदृशाक भवति सर्व विषयाणां विशद वर्णनम् सम्यक् प्रकारेण श्री मदाचार्येण कृतम्।

श्री १०८ आचार्य वर्यै: परिश्रमेण विविध ग्रंथानामलोडनं कृत्वा स्पष्टीकृतम् यत्तु शुद्धोपयोग: सप्तम गुणस्थानानुपूर्व कदाचित् न भविति साम्प्रतम् हस्तगत पुस्तकं पाठित्वा समीचीन प्रकारेण निश्चितं शुद्धोपयोग स्थानम् ।

– पं. दयाचंद शास्त्री काव्यतीर्थ,
एम.ए.,बी.एड.
अजयगढ़ (पन्ना)

प्रस्तुत पुस्तक (शुद्धोपयोग) में आचार्य श्री विराग सागर जी महाराज ने अनेक सिद्धान्त ग्रंथों का गहन अध्ययन एवं मनन करके इस कृति की रचना की है। जिसमें आचार्य श्री ने सिद्धांत ग्रंथों के अनेकानेक उद्धरण देकर स्पष्ट कर दिया है कि शुद्धोपयोग सातवें अप्रमत्त संयत गुणस्थान से आरंभ होता है उसके पूर्व नहीं ।

मेरे अध्ययन से स्पष्ट हुआ कि अमृतचंद्राचार्य ने प्रवचनसार की टीका में परद्रव्य संयोग कारण से होने वाले जीव के समस्त उपयोग की अशुद्ध कोटि में लेकर विशुद्ध संक्लेश रूप उपराग के वशीभूत, उसे शुभ और अशुभ नाम दिया है।

उन्होंने दर्शनमोह एवं चारित्र मोह इस प्रकार इस समस्त मोहनीय कर्म की उदय दशा में जीव को अशुभ उपयोग और क्षयोपशम दशा में शुभोपयोग कहा है।

आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने शुद्धोपयोग का विधान पर द्रव्य निवृत्ति के अभाव में अशुद्ध उपयोग से विमुक्त होकर मात्र स्वद्रव्य के आश्रय रूप अवस्था में शुद्धोपयोग माना है ।

परम पूज्य आचार्य श्री विराग सागर जी महाराज ने यह पुस्तक लिखकर जैन समाज और जैन धर्म के अध्ययन शील श्रावकों और विचारकों को सूर्य की भाँति प्रकाशमान सत्य उद्भाषित किया है । आचार्य श्री ने ४५ ग्रंथों का गंभीर अध्ययन कर यह महान कृति समाज को प्रदान की । मैं तो इस कृति को पढ़कर जहाँ आचार्य श्री के प्रति अभिभूत हुआ हूँ वहीं पर उनकी प्रसाद गुण युक्तशैली एवं सुस्पष्ट लेखन के प्रति विनयावनत् हूँ ।

– पं. दरबारी लाल शास्त्री, एम.ए. साहित्यरत्न ललितपुर

'शुद्धोपयोग' नामक पुस्तिका का अध्ययन करके मुझे अपार प्रसन्नता हुई इस पुस्तिका ने एकांत विचारधारा के लोगों को चिंतन करने के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया है ।

मैं परम पूज्य प्रातः स्मरणीय (आचार्य) श्री १०८ विराग सागर जी महाराज के चरणों में किन शब्दों में श्रद्धा प्रकट करूं जिन्होंने विविध प्रमाणों एवं युक्तियों के साथ सप्रमाण यह सिद्ध कर दिया है कि निर्विकल्प (मुनि) जीवन के बिना शुद्धोपयोग की प्राति हो ही नहीं सकती है और वह चौथे, पाँचवे, छठे, गुणस्थान में संभव ही नहीं इसका संबंध एकान्त साधना और उच्च चिंतन से है । स्वाध्याय या चर्चाओं से नहीं । मैं तो पहिले से ही इस विचार में ही था ।

इस पुस्तिका ने मेरे विचारों की और बल दिया है और मैं विश्वास करता हूँ कि इस पुस्तिका द्वारा जैन समाज में व्याप्त एकान्त विचार धारा के लोगों को अवश्य मार्गदर्शन मिलेगा ।

– पं. सत्यंधर कुमार सेठी, उज्जैन १५.५.९६

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विराग सागरजी महाराज द्वारा विरचित "शुद्धोपयोग" ग्रंथ के बारे में मेरी यही सम्मति है कि इस ग्रंथ में आचार्य महाराज ने बहुत परिश्रम पूर्वक भरमार आगम ग्रंथ के प्रमाण उपस्थित कर शुद्धोपयोग के बारे में विस्तृत विवेचन किया है और सिद्ध किया कि चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता नहीं है इस बात को सिद्ध किया है । यह स्तुत्य है ।

मैं वंदनीय आचार्य विराग सागर जी महाराज के परिश्रम से तैयार हुए शुद्धोपयोग ग्रंथ को अत्यंत उपयोगी समझ कर आभार मानता हूँ और उनके चरणों में नमोस्तु समर्पण करता हूँ ।

– पं. मल्लिनाथ 'शास्त्री' – मद्रास

४.७.९६

उपरोक्त पुस्तक को पढ़कर मैंने आध्यात्मिक विषय को स्पष्ट रूप से मालूम किया है । अधिक प्रभावित भी हुआ हूँ । वर्तमान में जैन समाज में शुद्धोपयोग विषय बहुत चर्चित बन गया है । उक्त पुस्तक में पूज्य मुनिराज (आचार्य महाराज) ने अनेक आगम प्रमाण देकर शुद्धोपयोग विषय का प्रतिपादन किया है । प्रत्येक आत्मार्थी भव्यों के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है ।

किसी विषय के ज्ञान को सम्यक् प्रकार से प्राप्त करने के लिए आगम ग्रंथ का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है । आगम ग्रंथ आध्यात्मिक कर्म सैद्धान्तिक होते हैं । पूज्य मुनिराज ने प्रतिपादित विषय को सुदृढ़रूप से पाठकों के सामने रखने के लिए आध्यात्मिक ग्रंथ ही लिया है । क्योंकि प्रत्येक जीव का लक्ष्य शुद्धोपयोग प्राप्त करने का होना चाहिए । उस के लिए योग्य सामग्री आध्यात्मिक ग्रंथों में ही मिल सकती है।

पूज्य मुनिराज (आचार्य श्री) ने आगम प्रमाण और नय के आधार पर शुद्धोपयोगी संबंधी विषय को अति स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है । प्रत्येक आत्मार्थी भव्यों को इस पुस्तक का अध्ययन और मनन करना चाहिए । ये सभी बातें चिंतन का विषय हैं।

'शुद्धोपयोग' संबंधी विषयों को सम्यक् प्रकार समझने के लिए यह पुस्तक अत्यंत उपयोगी है । मैं पूज्य आचार्य श्री के लिए कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए उनके दिव्य चरणों में नतमस्तक होकर नमोस्तु करता हूँ ।

- पं. सिंहचन्द्र शास्त्री -- मद्रास

शुभोपयोग के विषय में जैसी मेरी भ्रान्ति दूर हुई है, ऐसी ही शुद्धोपयोग के विषय में उनकी थी भ्रांति दूर हो जावेगी ।

कृति छोटी पुस्तिकाकार होने पर भी उसमें संचित महान आचार्यों के संदर्भ यह घोषणा करते प्रतीत होते हैं कि इसकी रचना के पीछे वर्षों का गंभीर अध्ययन, मनन, चिंतन व्याप्त है।

मिथ्यादृष्टि के अशुभपयोग ही होता है, परंतु हाँ कहीं कदाचित् उसकी योग विषयक शुभ क्रियाओं की प्रधानता से शुभोपयोग भी कहा गया है तो वह मात्र पुण्य बंध का ही हेतु कहा गया है परंपरागत मुक्ति का हेतु नहीं है।

यदि विवेकीजन इस पुस्तिका का ध्यान पूर्वक एक बार भी परायण कर लें तो उनके पक्ष व्यामोह निरक्त हो जावेंगे ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है। आशा है मुमुक्षु प्राणियों को इससे आशातीत लाभ होगा।

- श्री गुलाबचंद जी 'आदित्य'

''शुद्धोपयोग'' यह पुस्तक परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विराग सागर जी महाराज के बीना चातुर्मास के समय लिखे गये निबन्ध 'शुद्धोपयोग' का ही परिमार्जित रूप है उसे उस समय भी मुझे पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था । तभी से मेरी एक भ्रांति का निराकरण हुआ था कि मिथ्यादृष्टि के भी (मुक्ति साधक) शुभोपयोग होता है । उस समय तक ऐसी मेरी धारणा थी कि शुभोपयोग एवं अशुभोपयोग हर क्षण परिवर्तित होता रहता है परंतु शुद्धोपयोग सप्तम गुणस्थान के पूर्व नहीं हो सकता ऐसी मेरी मान्यता सदा से रही है ।

किंतु सुविधा भोगी कतिपय आधुनिक धर्मात्माओं को चतुर्थ गुणस्थान में ही शुद्धोपयोग प्रतिभाषित होने लगता है यदि वे इस लघु कृति का एक बार निष्पक्ष रूप से गंभीरता पूर्वक परायण कर लेते तो उनकी धारणा में अवश्य अंतर आ जायेगा।

परम पूज्य आचार्य श्री विराग सागर जी द्वारा लिखित यह ''शुद्धोपयोग'' आद्योपान्त पढ़ा इस पर क्या लिखूं ''हाथ कंगन को आरसी क्या'' इस उक्ति को चरितार्थ कर रहा है यह ग्रंथ । पूज्य आचार्य श्री की इस खोज के लिए नयी दिशा भी प्रदान करेगी । जो लोग चौथे गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि को भी शुद्धोपयोगी मानते हैं उन्हें खोज पूर्ण दृष्टि भी प्रदान करेगा.।

आर्ष ग्रंथों के अनेक स्थलों को समेट और सहेजकर एक माला में पिरोये मोतियों की माला की तरह यह ग्रंथ कल्याण मार्ग को प्रकाशित करेगा ।

- पं. कमल कुमार ''शास्त्री''

मंत्री, अ.भा.दि. जैन महा समिति

(मध्यांचल) टीकमगढ़ (म.प्र.)

२८.६.९६

''शुद्धोपयोग'' नामक ग्रंथ आद्योपान्त पढ़ा जिसको पढ़कर अतीव प्रसन्नता हुई आचार्य श्री जी ने अनेक ग्रंथों के उद्धरण देकर ''शुद्धोपयोग'' (कृति) को बड़ी मेहनत से लिखा है । विद्वानों को यह ग्रंथ पढ़ने लायक है, आगमानुसार है और बहुत उपकारी है, सूरज को क्या दीपक दिखाऊँ । धन्य हैं आचार्य श्री जो आत्म साधना में निरन्तर तत्पर रहते हैं ।

- पं. लक्ष्मण प्रसाद जैन शास्त्री (खिरिया वाले)

सरायपुरा - ललितपुर

आपने पूर्वाचार्यों के ग्रंथों को मंथन कर उल्लेख करते हुए सटीक प्रमाणों सहित उद्धरण देते हुए सिद्ध कर दिखाया है कि यह ग्रंथ वर्तमान समय को देखते हुए समाज में फैली हुई भ्रांतियों, मान्यताओं व संदेहात्मक विचारों के प्रतिहार में ''शुद्धोपयोग'' दशा का प्रत्येक रूपों में अपनी ''सुबुद्धि छैनी परम पैनी'' ज्ञान के द्वारा परिमार्जित कर स्पष्ट दर्शाया है जो सभी के लिए उपादेय है।

अत: ऐसे ग्रंथ को जन-जन के हाथों में पहुँचाने का प्रयास कराना उचित होगा।

- पं. कपूरचंद शास्त्री, रिटायर्ड - उच्च श्रेणी शिक्षक

वर्द्धमान नि. - अशोक नगर, गुना (म.प्र.)

शुद्धोपयोग ग्रंथ का अवलोकन कर स्वाध्याय किया, मनन व चिंतन के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पहुँचा कि वास्तव में वर्तमान समय के अनुकूल ऐसी कृति का सर्वोपरि श्रेय परम पूज्य आचार्य श्री विराग सागर जी को है । जिन्होंने ऐसी रचना कर निर्ग्रंथ साधु वर्ग की कोटि में आने वाले चतुर्विध संघ के लिए 'शुद्धोपयोग' के रूप में जिस ग्रंथ की रचना की है वह परमोपयोगी है एवं रत्नत्रय की उपलब्धि रूप मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करने का सच्चा उपाय है ।

आचार्य श्री ने इस छोटे से ग्रंथ में ''गागर में सागर'' भरने का भरसक प्रयत्न किया है । नय व प्रमाणों के माध्यम से शुद्धोपयोग के स्वरूप का विश्लेषण कर ग्रंथ को रोचक बनाने का अथक प्रयत्न किया है जो बहुत सराहनीय है ।

परम पूज्य विद्वान आचार्य श्री विराग सागर जी महाराज ने ३२ उप. शीर्षकों में शुद्धोपयोग का जो सांगोपांग चित्रण आध्यात्मिक एवं आगमिक परिपेक्ष्य में प्रस्तुत किया है वह अपने आप में महत्त्वपूर्ण चिंतनीय एवं शोधार्थियों के लिए उपयोगी है।

- प्रतिष्ठाचार्य - पं. श्री विमल कुमार सौरया

टीकमगढ़ (म.प्र.)

तपोनिष्ठ परम पूज्य आचार्य श्री द्वारा रचित कृति 'शुद्धोपयोग' को पढ़कर आत्मिक शान्ति मिली । वर्तमान में 'शुद्धोपयोग' विषय बहुत चर्चित है आचार्य श्री ने अथक परिश्रम कर आगम प्रमाण प्रस्तुत करके नई विचारधारा के विद्वानों के ज्ञान चक्षु खोलनें का यत्न किया है । वह अत्यन्त सराहनीय है, मैं उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ ।

-प्रतिष्ठा पं. दयाचंद शास्त्री

- सतना २१.६.९६

जैन शासनान्तर्गत भगवान जिनेन्द्र देव की परम पावन कल्याणी वाणी जिनवाणी के रूप में अविरत/अबाधित गति से धारा प्रवाह रूप में अद्यावधि भी विद्यमान है ।

किंतु काल दोष प्रभाव वश कुछ लोगों ने उसे मनवाणी/निजवाणी का रूप देते हुए जनवाणी बनाने का असफल प्रयास किया है ।

ऐसे समय में जिनवाणी को जिनवाणी के रूप में ही प्रतिपादित करने में आचार्य श्री विराग सागर जी की प्रस्तुत कृति 'शुद्धोपयोग' एक स्तुत्य प्रयत्न है । आचार्य श्री ने एक दो नहीं, किंतु ३१५ प्रमाण ४५ ग्रंथों के संबंधित विषय शुद्धोपयोग पर दिये है । जो कि उसके गहन अध्ययन, चिंतन, मनन एवं अनुभूति के प्रबल परिचायक है ।

आपकी सहज सरल ज्ञान गम्य शैली भी विरोधियों को स्वयमेव नत मस्तक होने को मजबूर कर देती है । अतएव प्रत्येक धर्म प्रेमी स्वाध्यायशील, तत्त्व जिज्ञासु भव्यात्मा अवश्य प्रस्तुत कृति का आद्योपान्त स्वाध्याय कर अपने मन का भ्रम दूर कर जिनवाणी को यथार्थ रूप में ही प्रचार-प्रसार कर निःशंकित अंग का दृढ़ता से पालन करता हुआ रत्नत्रय की साधना से आत्म शुद्धि का पथ प्रशस्त करे ।

- प्रतिष्ठाचार्य पं. पवनकुमार 'शास्त्री' 'दीवान'

प्राध्यापक श्री गोपाल दि. जैन सि.स.वि.

मोरेना (म.प्र.)

आगम के अभिप्राय को प्रबल प्रमाणों से पुष्ट करनेवाले आचार्य श्री विराग सागर जी महाराज की कृति पढ़ी। निष्पक्ष भाव आगम के अनुकूल अभिप्राय रखनेवालों को यह सप्रमाण चर्चा अपनी बद्धधारणा पर पुनर्विचार करने को प्रेरित करेगी, वशर्ते वे धैर्य पूर्वक इसका अध्ययन कर सकें। आचार्य श्री ने उपसंहार में (पृ. ४६ पर) लिखा है, ज्ञान श्रद्धान को दृढ़ बनाता है, वह उसे हठी नहीं बनाता। फिर भी यदि (कोई) हठ कर रहा है तो ऐसे ज्ञान या ज्ञानी से अनपढ़ आज्ञा प्रधानी सम्यग्दृष्टि कई गुना विशुद्ध है।

आचार्य श्री ने प्राक्कथन में ठीक ही लिखा है कि पक्ष और सत्य दोनों एक साथ नहीं रह सकते । पक्ष व्यामोह सत्य को संकीर्ण और विकृत बनाकर व्यक्ति को सत्य से भ्रमित कर देता है । अतः पक्ष से मुक्त होकर समझना चाहिए।

आगम में अप्रमत्तसंयत सप्तम गुणस्थान से ही शुद्धोपयोग को स्वीकार किया है क्योंकि निर्विकल्प शुद्धोपयोग, निर्विकल्प अप्रमत्त गुणस्थान में ही संभव है । आचार्य श्री का अभिप्राय सही है । आचार्य श्री ने अपने अभिप्राय को ३२ शीर्षकों में क्रमिक विवेचना कर लिपिबद्ध किया है और आगम प्रमाणों से इसकी पुष्टि की है ।

-डॉ. चेतन प्रकाश पाटनी -- जोधपुर (राज.)

''आगम चक्खू साहू'' साधु का चक्षु (नेत्र) आगम होता है, इस कृति के अनुसार पूज्य 'आचार्य श्री १०८ विराग सागर जी महाराज' ने अपनी अभिनव कृति ''शुद्धोपयोग'' में शुद्धोपयोग का आगम और अध्यात्म के परिपेक्ष्य में खुलासा कर सप्रमाण इस बात की सिद्धि की है कि शुद्धोपयोग अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है यह गृहस्थों के संभव नहीं है ।

पुस्तक की भाषा सधी हुई और हार्द को स्पष्ट करने वाली है, आजकल एकान्तवादी विचारक चौथे गुणस्थान में भी शुद्धोपयोग होने की चर्चा करते हैं, उनका निरसन इस कृति से स्वत: हो जाता है । पूज्य आचार्य श्री ने शुद्धोपयोग जैसे चर्चित विषय पर अपनी लेखनी चलाकर समाज पर उपकार किया है ।

शास्त्रीय विषयों पर लेखनी चलाने वाले विद्वानों का आज कल अभाव होता जा रहा है ऐसी स्थिति में यह कृति अपने विषय की पथदर्शिका होगी ।

-डॉ. रमेशचंद्र जैन रीडर एवं

अध्यक्ष संस्कृत विभाग

वर्द्धमान कॉलेज विजनौर (उ.प्र.)

''शुद्धोपयोग'' द्रव्यानुयोग का विषय है जैन आगम एवं सिद्धान्त ग्रंथों में द्रव्य एवं पर्याय दृष्टि से षड् द्रव्यों का (अस्तिकाय) सम्यक् विवेचन मिलता है।

आचार्य श्री विराग सागर जी ने समस्त जैन वाङ्मय का मनन कर भव्य जीवों पर करुणा कर उनके ही कल्याणार्थ प्रस्तुत उपादेय ग्रंथ की रचना की हैं । जिसमें शुद्धोपयोग को विभिन्न दृष्टिकोणों से समझाया है अभिप्राय यह है कि कालादिलब्धि वश जब भव्यत्व शक्ति व्यक्त होती है । निज स्वभावानुभवन होता है तब शुद्ध पारिणामिक भाव कहलाता है तभी निज परमात्म तत्त्व के प्रति यथार्थ श्रद्धान बढ़ जाता है इसी रूप ज्ञान और आचरण पर्याय से परिणत आत्मा शुद्धोपयोगी कहलाता है । जिसमें त्रिविध रूप दर्शन, ज्ञान, चारित्र एक रूप से ही सुशोभित होते है । आचार्य श्री की महती अनुकंपा के प्रति ऋणी हूँ कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ आशा है यही दृष्टि बनी रहेगी । बारम्बार शतश: चरण कमलों में सादर वंदन प्रणाम ।

- डॉ. धर्मचंद्र जैन, प्रो. एवं चेयर मेन

प्राच्य विद्या विभाग कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

कुरुक्षेत्र हरियाणा १.७.९६

''शुद्धोपयोग'' आद्योपान्त पढ़ा, सप्रमाण लिखा यह ग्रंथ जैन साहित्य का गौरव है । इससे शुद्धोपयोग संबंधी शंकाओं का समाधान हो सकेगा ।

प्रज्ञा संपन्न लेखक जैनाचार्य 'श्री विराग सागर जी' महाराज युवा होते हुए भी ज्ञानवयो वृद्ध प्रतीत होते हैं । उनका ग्रंथ पी. एच.डी. उपाधि के योग्य है ।

-डॉ. कस्तूरचंद 'सुमन'

प्रभारी - जैन विद्या संस्थान श्री महावीर जी

जिला - सवाई माधोपुर (राज.)

''शुद्धोपयोग'' यह लघु काय पुस्तक मात्र समय गुजारने का परिणाम नहीं है, अपितु परिणामों के उथल-पुथल रूप मंथन से प्रसूत नवनीत रूप प्रसाद है। अत: नि:संकोच यहाँ यह अवधारणीय है कि पुस्तक का परिमाण भले ही अल्प है किंतु पुस्तक की विषय वस्तु लेखक महोदय के चिंतन से अनुस्यूत पाठकों के चिंतन को दिशा देनें - बदलने की प्रक्रिया में तपोधन आचार्य श्री का परिणाम सलिल रूप पुण्यावगाही रसायन है ।

विषय विवेचना में यथावश्यक मूल गाथायें एवं प्रसंगानुकूल संस्कृत टीकाओं के भाग भी उद्धृत किये है । इस प्रयास से विषय प्रतिपादन की प्रामाणिकता एवं विषय वस्तु का विश्लेषण असंदिग्ध बन गया है, कहीं भी किसी प्रकार से ऊहापोह करने के लिए अवकाश ही नहीं रह गया है ।

उपर्युक्त आलेख के आलोक में समग्र रूप से मेरा अभिमत है कि पुस्तक में सभी आवश्यक बातें एकत्र रूप से सुलभ है । पक्ष व्यामोह की दशा को दिशा देने हेतु परमोपादेय कृति है ।

-डॉ. अजित कुमार जैन

एम.ए. (संस्कृत, हिंदी, अर्थशास्त्र) L.L.B.,

PH.D., डी.लिड्. २०/१५/A धुलियागंज

१४.६.९६

''शुद्धोपयोग'' पुस्तक आध्यात्मानुयायिओं को सहेतुक है । अनपेक्षित आशंकाओं, के निराकरण में सहयोगी है, निश्चय नय के मार्ग में पाथेय स्वरूप है।

निरालंबन आश्रय है, आगम प्रमाणानुसारि लेख निबद्ध है । तत्वानुशीलन में सार्थक है । ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय । ध्याता, ध्यान और ध्येय की समवायिक एकाकारित में चिंतनमय प्रकाशक है ।

-डॉ. प्रेमचंद रॉवका
प्रो. राजकीय आचार्य संस्कृत महाविद्यालय
बीकानेर (राज.)

भारत भूमि पर सदा-सदा से युगपुरुषों संतों की दैदीप्यमान आभा सर्वदा आलोकित होती रही है । आज के जो महानुभाव पूर्वाग्रह तथा पक्षाग्रह के व्यामोह में ग्रसित होकर दिग्भ्रमित रहे हैं, उन्हें 'शुद्धोपयोग' ग्रंथ सही मार्गदर्शन करने में पूर्णत: सक्षम है । वास्तव में शुद्धोपयोग लेख परमार्थ के मार्ग में अनवरत रूप से स्थिरता प्रदान करेगा ।

आचार्य श्री की प्रस्तुति कृति आज के समय में अति उपयोगी है । आगम प्रमाणों के आधार पर पक्षाग्रहों को निरस्त करने में पूर्ण सक्षम है ऐसी मेरी भावना है । आचार्य श्री ने भव्यों को सही मार्गदर्शन हेतु 'शुद्धोपयोग' विषय का यथार्थ निरूपण कर जैन वाङ्मय की जो सेवा की है वह तो नि:संदेह अप्रतिम है । आचार्य श्री की यह कृति हमारी समाज में फैली हुई भ्राँतियों को दूर करती है तथा सन्मार्ग का पथ प्रदर्शन करती है ।

-डॉ. संतोषकुमार जैन
श्री दि. जैन सी. ए. स्कूल - सीकर (राज.)
१८.५.९६

'शुद्धोपयोग' कृति पढ़कर अतीव प्रसन्नता हुई । शुद्धोपयोग की पात्रता एवं अवस्था का शास्त्रों के आधार पर विधिवत् ज्ञान हुआ । आपने इस कृति के पृ.क्र. ४६ पर डंके की चोट पर इस बात को सिद्ध किया है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती श्रावक को शुद्धोपयोग की पात्रता नहीं है ।

-डॉ. माणिकचंद जैन -- स्नातक
मोराजी - सागर मढ़िया गुरुकुल जबलपुर.

महाराज श्री का प्रयास श्लाधनीय है । पुस्तक प्रमाण युक्त है और पात्रों के उपयोग की भी है । इसे कोर्स में भी चलाया जा सकता है । पाठ्यक्रम निर्धारण समिति की बैठक में इसे प्रस्तुत करूँगा ।

-डॉ. अभय प्रकाश जैन -- ग्वालियर

परम श्रद्धेय पूज्य दिगंबराचार्य श्री विराग सागर जी महाराज द्वारा रचित एवं पं. डॉ. दरबारी लाल जी कोठिया द्वारा संपादित आत्मा के अतीन्द्रय ज्ञान और सुख के आधार रूप ''शुद्धोपयोग'' नामक पुस्तक के आलोडन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन के इस गूढ़तम विषय पर पूज्य आचार्य श्री विराग सागर जी की तीक्ष्ण और

सूक्ष्मतम दृष्टि आत्मा के उच्चस्तरीय स्वरूप को व्याख्यापित करने में कितनी सफल है । प्रतिपादित ससंदर्भ विषय के कारण उसमें ऐसा कुछ भी शेष नहीं लगता जिसकी पूर्ति पुस्तक की समीक्षा करके दी जा सके । यह तो सूरज को रोशनी दिखाने जैसा ही होगा, फिर भी जिज्ञासु प्रवृत्ति के कारण अपनी ज्ञान पिपासा को शांत करने के लिए ही मैंने यह धृष्टता/अविनय जानबूझ कर ही /किया है ।

-डॉ. जिनेन्द्र जैन, व्याख्याता प्राकृत विभाग

जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं

३.१०.९६

जब मैं पढ़ता था, तब हमारे गुरु ने शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग को समझाने का प्रयत्न किया था, किंतु शुद्धोपयोग समझ में नहीं आया था ।

किंतु आपके (परम पूज्य आचार्य श्री विराग सागर जी महाराज के) ग्रंथ (शुद्धोपयोग) से वह 'हस्तामलकवत्' हो उठा यह सब आपकी आसान और सरल शैली के कारण ही संभव हो सका । आपका विचार और चिंतन जैसे परिपक्व है, तदनुरूप ही सम्प्रेषण शक्ति भी गजब की है । ऐसा मुश्किल विषय और ऐसी आसान भाषा में लिखने की शक्ति, उसी में ही हो सकती है, जिसने विषय को भली-भाँति पचाया हो । मैं ग्रंथ की जितनी सराहना करूं कम है ।

-डॉ. प्रेमसागर जैन

दि.जैन मुनि विद्यानंद शोधपीठ

गांधी रोड, बड़ोत

'शुद्धोपयोग' पुस्तक का आद्योपान्त अध्ययन किया । प्रस्तुत कृति में समस्त आगम प्रमाणों के साथ प्रकृत विषय पर अच्छा प्रकाश डाला गया है ।

आचार्य श्री का यह श्रम अभिनंदनीय है । जिसके द्वारा शुद्धोपयोग के संबंध में समाज में व्याप्त भ्रम और विवादजन्य वातावरण का सामयिक निरसन होगा ऐसी अपेक्षा है । प्रस्तुत पुस्तक में आपकी निष्पक्ष दृष्टि आपके गरिमामय व्यक्तित्व के अनुकूल है । पुस्तक यथार्थ में माध्यस्थ भाव से लिखी गयी है । तथा माध्यस्थ भाव से पठनीय चिंतनीय एवं मननीय है ।

-डॉ. श्रीमति कृष्णा जैन -- प्राध्यापक (संस्कृत)

शासकीय स्वशासी स्नातकोत्तर महाविद्यालय - दतिया

६.६.९६

आचार्य श्री न केवल संत है बल्कि रत्नत्रय के साक्षात् दिवाकर है । आगम ज्ञान ही इनके रग-रग का श्रृंगार है । आप तत्त्ववेत्ता, आध्यात्मिक संत, तीर्थोद्धारक, उपसर्ग विजेता, कुशल वक्ता, सुयोग्य लेखक, कवि हृदय, ज्ञानी-ध्यानी, भेद-विज्ञानी, करुणा हृदयी, वनवासी एवं श्रमण संस्कृति के उपासक हैं । आप बहुमुखी प्रतिभा के धनी एवं मौलिक प्रतिभाओं के पुंज हैं ।

आपने 'शुद्धोपयोग' नामक कृति की रचना की हैं । जिसमें कहा गया है कि शुद्धोपयोग मुनिराजों के ही होता है गृहस्थों के नहीं, इत्यादि विषयों के आगम के उद्धरणों से प्रमाणित करते हुए विद्वान-लेखक पू. महाराज के विवेचित किया है ।

यह पुस्तक अध्ययन के लिए उपयोगी है । जिज्ञासुओं के लिए बहुत उत्तम है।

-डॉ. श्रीमती नूतन जैन (धूलिया मं.) आगरा

शुभोपयोग एवं शुद्धोपयोग को परिभाषित करते हुए श्रावक को सही मार्ग दर्शन की वास्तव में आवश्यकता है । चतुर्थ गुणस्थान से ही स्वयं को शुद्धोपयोग में समझने वाले गृहस्थों ने बड़ी भ्रामक और विखराव वाली स्थिति पैदा कर दी है जो कि आज की आराम तलब पीढ़ी को बड़ी ही मनोवांछित है ऐसी स्थिति में आचार्य श्री विराग सागर जी की पुस्तिका बड़ी अच्छी एवं समयोपयोगी लगी ।

- डॉ. एस.आर.जैन
सी.एस.एस.विश्वविद्यालय, सागर

''शुद्धोपयोग'' पुस्तक इस सत्र की सर्वश्रेष्ठ और प्रमाणिक पुस्तक है ।

नरेन्द्र प्रकाश जैन
नई बस्ती, फिरोजाबाद

परम पूज्य १०८ आचार्य श्री विराग सागर जी महाराज एक अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी वीतरागी दिगंबर संत हैं । इनकी तपः पूत लेखनी से अभी तक अनेक कृतियों का सृजन हुआ हैं । 'शुद्धोपयोग' उन्हीं कृतियों में से एक रत्न है । इसमें आगमिक और आध्यात्मिक भाषाओं में (शैली में) नयों का निरुपण है तथा अशुभोपयोग, शुभोपयोग और शुद्धोपयोग की भूमिकाओं (ये उपयोग कब, कहाँ और किनके होते हैं) का सप्रमाण प्रतिपादन है । लगभग शतार्ध आर्ष ग्रंथों का सम्यक् आलोडन करके आचार्य श्री ने बड़े श्रम से ''शुद्धोपयोग'' रूप नवनीत निकाला है । जो सभी को पठनीय, चिंतनीय, विचारणीय व आचरणीय है । आत्म हितैषीजन इसका परायण कर लाभ लेवें स्वपर कल्याण करें । यही इसकी सार्थकता है । पूज्य आचार्य श्री ने इसका संकलन / सृजनकर हम सभी को उपकृत किया है, जिसके लिए हम सब उनके ऋणी हैं ।

-प्राचार्य अभय कुमार शास्त्री

साहित्यरत्न, साहित्याचार्य जैन दर्शनाचार्य, प्राकृताचार्य

बीना, १५.६.९६

मेरे पास एक साथ दो पुस्तकें समीक्षार्थ आयी :-

(१) ''शुद्धोपयोग'' लेखक आ. विराग सागर जी

प्रकाशक : श्री सम्यग्ज्ञान दि. जैन विराग विद्यापीठ शाखा - देवेन्द्र नगर

(२) ''अविरत समयक्त्वी के शुद्धात्मानुभूति की सप्रमाण सिद्धि''

संकलन : अध्यात्मयोगी वीर सागर जी.

प्रकाशक : श्री समयसार प्रकाशन समिति ४२६, शुक्रवार पेठ, सोलापुर - २.

अस्तु दोनों पुस्तकों का अवलोकन एक साथ किया और पाया कि दोनों पुस्तकों में बहुत सारी समर्पित गाथायें समान दी गई हैं ? सार गाथा ८० एवं भाव संग्रह की गाथा ८१-८३ आदि । परंतु मुनिश्री वीर सागर जी ने उसकी व्याख्या में अपने मन्तव्य की चिकनाई लगाते हुए पाठकों को परोसने की कोशिश की है। उनका तर्क है चतुर्थ गुणस्थान में धर्मध्यान आगम में बताया है अस्तु शुद्धोपयोग चौथे से शुरू माना जावेगा तथा अव्रती के लिए आत्मस्वरूप के ध्यान में बाधा नहीं।

यहाँ हमें विचार करना है कि शुद्धोपयोग से जो धर्मध्यान कहा है वह निश्चय धर्म ध्यान है जो गृहस्थों के नहीं हो सकता, गृहस्थों को केवल भद्रध्यान बताया है, क्योंकि वह गृहस्थी के आरंभ, परिग्रह व संकल्प-विकल्प में उलझा रहता है । भाव संग्रह गाथा ३८१ से ३८९ में यह स्पष्ट किया है कि मुख्य (निश्चय) धर्म ध्यान देशव्रती को भी नहीं हो सकता । अतः चतुर्थ गुणस्थानवर्ती शुद्धात्मा का ध्यान कैसे कर सकता है । किसी बात के विचारने, सोचने या चिंतन करने से वह ध्यान संज्ञा को प्राप्त नहीं हो जाता । हरिवंश पुराण और मोक्ष पाहुड में भी यही कहा है कि वास्तव में (निर्विकल्प) धर्मध्यान अप्रमत्त के ही होता है । चौथे गुणस्थानवर्ती को शुभोपयोग रूप सविकल्पात्मक धर्मध्यान होता है । अंतरंग व बहिरंग परिग्रह त्याग ही ध्याता होता है । (ध.पु. १३१.९५)

विषय को ज्यादा विस्तार न देते हुए मैं यही कहना चाहूँगा कि आचार्य विराग सागर जी महाराज ने ४५ ग्रंथों के संदर्भ देकर अपनी सार गर्भित कृति ''शुद्धोपयोग'' में यह स्पष्ट कर दिया कि शुद्धोपयोग ७ वे से प्रारंभ होकर १२ वे गुणस्थान में अपनी पूर्ण/ उत्कृष्टता को प्राप्त हो जाता है । लगभग १०० पृष्ठों की इस लघुकाय पुस्तक से संपूर्ण

नय विवक्षा पूर्वक विषय का प्रतिपादन किया गया है । आचार्य श्री की अभीक्ष्ण ज्ञान प्रतिभा और उससे जुड़े संयम व तप का प्रभाव है कि एक भ्रम को तोड़ने में यह कृति सफल हुई है और होगी यदि प्रबुद्ध पाठक हठाग्रह से विमुक्त होकर इसका स्वाध्याय, मनन करें ।

मैं आशा करता हूँ कि आचार्य श्री आगे ऐसे ही विवादास्पद विषयों को खुलासा करने के लिए नई मौलिक कृतियों का प्रणयन करेंगे ।

-पं. निहालचंद जैन 'प्राचार्य'

-- बीना (म.प्र.)

१६.६.९६

जैन विचारणा में शुभोपयोग और शुद्धोपयोग को लेकर पर्याप्त विवाद प्रचलित है निश्चय नय प्रधान कांजी भाई की विचार दृष्टि का अनुसरण करने वाले चिंतक यह मानते हैं कि शुभोपयोग हेय है मात्र शुद्धोपयोग ही उपादेय है । इस दृष्टि का परिणाम यह हो रहा है कि व्यवहार आचार की अवहेलना के साथ - साथ नकारात्मक अहिंसा की जीवन दृष्टि की भी उपेक्षा हुई है । इस संदर्भ में वर्तमान में निश्चय--व्यवहार विषयक व्याप्त भ्रांतियों के निराकरण के लिए ही आचार्य श्री विराग सागर जी ने इस कृति का प्रणयन किया ।

प्रस्तुत कृति मे उन्होंने दोनों पक्षों को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है और यह माना कि शुभोपयोग और पुण्य भी साधना के एक स्तर तक उपादेय है।

आचार्य श्री की यह कृति शुभोपयोग एवं शुद्धोपयोग की समस्या के संदर्भ में निश्चित ही उनके नीर क्षीर विवेक का परिचायक है और उस एकान्त दृष्टि का खण्डन करती है जो शुद्धोपयोग की उपलब्धि में शुभोपयोग को सहायक न मानकर उसे एकान्त रूप से हेय मान लेते हैं ।

कृति निश्चित ही पठनीय और संग्रहण--संग्रहणीय है । मुद्रण निर्दोष और साज सज्जा आकर्षक है । जटिल विषय के भी सरल व सहज रूप में प्रस्तुत करने के लिए आचार्य श्री का यह प्रयत्न स्तुत्य है ।

प्रो. सागरमल जैन

निर्देशक - पार्श्वनाथ विद्यापीठ, बनारस

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

परम पूज्य आचार्य श्री विराग सागर जी द्वारा रचित "शुद्धोपयोग" कृति को मैंने आद्योपान्त पढ़ा । आचार्य श्री ने पर्याप्त आगम प्रमाण देकर सिद्ध कर दिया है कि शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थान से पूर्व संभव नहीं है ।

अतः जो लोग सातवें गुणस्थान से नीचे चौथे आदि गुणस्थानों में शुद्धोपयोग मान बैठे हैं उनके लिये यह कृति अंधकार में प्रकाश स्तम्भ का कार्य करेगी ।

आशा है इस कृति द्वारा मुमुक्षुओं का अवश्य ही भ्रमोन्मूलन होगा और सर्वत्र इस कृति का समादर होगा ।

- सुरेश चंद्र जैन, प्रवक्ता - ललितपुर

परम पूज्य दिगंबराचार्य १०८ श्री विराग सागरजी द्वारा रचित "शुद्धोपयोग" रूप 'पुस्तकाकार रत्न' प्राप्त हुआ है, जिसका अवलोकन कर 'ज्ञानावरणीय' का कुछ आवरण हटा है ।

इतना अवश्य है कि जब कभी निश्चय वादियों के प्रवचन सुनने का अवसर मिलता था तो उनके द्वारा कथित अव्रती श्रावक से शुद्धोपयोग होने की बात मेरे गले नहीं उतरती थी । अस्तु, आचार्य श्री की इस कृति ने मेरी आँखों को खोल दिया ।

अतः मेरी सम्मति से (यह रचना वर्तमान में पथ भ्रमित निश्चयवादियों को राह दिखानें में अति उपयोगी प्रमाणित होगी । इसके अवलोकन से एकान्त वादिता खण्डित होती है और स्याद्वाद की पुष्टि भी ।

-हुकुमचंद जैन -- व्याख्याता
एस.पी.जैन गुरुकुल उ.मा.वि.
खुरई. २९.६.९६

आचार्य श्री विराग सागर जी ने परिश्रमपूर्वक आगम में से "शुद्धोपयोग" के बहुतेरे संदर्भ निकालकर इस संकलन में प्रस्तुत किया है । मूलस्तर उन सबका एक ही है । बात केवल एक, कहने के तरीके हैं अनेक । सातवें गुणस्थान से नीचे अथवा सविकल्प दशा में, बुद्धिपूर्वक मन-वचन-काय के संचालित रहते कहीं भी शुद्धोपयोग का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है । इस तथ्य को इस पुस्तक में भलीभाँति रेखांकित करने का प्रयास आचार्य श्री द्वारा हुआ है । इससे अध्येता स्वाध्याय प्रेमीजनों को स्पष्ट अवधारणा बनाने में मदद मिलेगी ।

कुल मिलाकर यह एक अच्छा प्रयास है । भविष्य में आचार्य श्री की लेखनी से और अच्छे शास्त्र का प्रणयन होता रहेगा, ऐसी आशा है ।

-नीरज जैन, सतना २.५.९६

पूज्य आचार्य श्री विराग सागर जी महाराज के दर्शन एक बार श्रेयांसगिरि पर श्री निर्मल जी सतना वालों के साथ किये थे । तभी से उनके प्रति मेरी अगाध श्रद्धा है, ज्ञान और चारित्र का ऐसा संगम कम ही देखने को मिलता है । वर्तमान में साहित्य प्रकाशन बहुत वृद्धि हुई है पर 'शुद्धोपयोग' जैसा उत्तम प्रकाशन बहुत ही कम दिखाई पड़ता है ।

पूज्य आचार्य श्री ने यह कृति लिखकर हम अज्ञानियों पर बड़ी कृपा की है कृति इतनी महत्त्वपूर्ण है कि वास्तव में यदि कोई निष्पक्ष भाव से अध्ययन करे तो उसका हर संशय समाप्त हो ही जायेगा । मुझे तो पूरी पुस्तक पढ़ने में अति आनंद आया है । पूज्य आचार्य श्री के चरणों में बारम्बार नमोऽस्तु (कोठिया जी आपकी महान कृपा है जो आपने इसका संपादन किया है ।)

-रतनलाल बैनाड़ा, आगरा

२८.५.९६

अध्यात्म सुख स्तोत्र महासागर ग्रन्थः ।

शुद्धोपयोगभिमतम् ।

जिनागम महासागर विश्वे पुरातन कालात् 'शुद्धोपयोगः' एवं चतुर्थ गुणस्थानात् जायते इति प्रचुरजनैः निरन्तमेव कथ्यते । समस्त विद्वज्जनाः वदन्ति । किंतु एतावत विवाद विषये १०८ विराग सागर महाराज महोदयैः एवं विषयं विपुलानि उदाहरणानि दत्वा सिद्धं कृतं यथा च "शुद्धोपयोग" सप्तम गुण स्थानात् जायते इति । एतावत् केनापि मुनिना तादृशं कथनं न कृतम् ।

श्री विरागसागर महोदयानां वचनं "सप्तमगुणस्थानात् शुद्धोपयोगः जायते इति सत्यमस्ति/अहमपि तदेव कथयामि यतः तैः पञ्च चत्वारिंशत् शास्त्राणां सहायेन शुद्धोपयोगः सप्तम गुणस्थानात् जायते इति सिद्धं कृतम् एषा जिनागम वाचनं, मननं, चिन्तनं तथा च लेखन मदि कौतुकास्पदं, अभिनन्दनास्पदं चास्ति श्री विराग महोदयः संस्कृतभाषायां तथा च हिन्दिभाषायामपि निपुणः विद्यते । तेषां जिनागमे दृढ़ा श्रद्धास्ति। सः सम्यक् जिनागम सेवकः वर्तते । जिनागम महासागरस्य मन्थनं कृत्वा जैनबंधुभ्यः "शुद्धोपयोग इति नवनीतम् वा अमृतं" दत्तम/एतदेवास्माकम् बान्धनानां परम सौभाग्यहित जैनानां कृते अधि एतत् महत्त्वपूर्णः विषयः अस्ति/एषः गुणस्थान विषयः सर्व सामान्य जनानंकृते नास्ति । जिनागम ज्ञानसूर्यः व केवलिवत् विद्यते ते एव गुणस्थान विषयं जानन्ति ।

मम विषये गुणस्थान विषये डा. दरबारीलाल कोठियावत् वा.पं. जगन्मोहन शास्त्रीवत् अविकार वाणी नास्ति । किंतु मम बुद्धायुसारेण श्री विराग सागर महोदयानांवचनं एव

''सप्तम गुणस्थानात शुद्धोपयोगः जायते'' इति सत्यमस्ति । सर्वजैनानां कृते एतत् संशोधम् नवनीतमस्ति ।

एषः विराग सागर महोदयानां ''शुद्धोपयोग ग्रन्थः'' अत्र जिनागम क्षितिजे सूर्यवत् प्रकाशमानः भवतु इति जिनेन्द्रं प्रति अहं प्रार्थना करोमि ।

- श्री धनपाल म. दाबले -- बी.ए.

अस.टी. कालोनी स्टॉप, ज्ञानेश्वर चौक विश्रामबाग,

सांगली (महा.)

प्रस्तुत पुस्तक ''शुद्धोपयोग'' में आचार्य श्री ने बहुत ही वैज्ञानिक पद्धति से उपयोग का प्रतिपादन संत ने अपनी अपूर्व अध्ययन क्षमता चिंतन, मनन एवं आगम ग्रंथों के द्वारा प्रमाणित कर चित्रित किया है । साथ ही उन्होंने शुद्धोपयोग को (आचार्य श्री ने) आगम और अध्यात्म दोनों पहलुओं से समझाया है, यह इस पुस्तक की मौलिकता है । तत् संबंधी विपुल सामग्री पुस्तक की विशेषता है ।

अस्तु शुद्धोपयोग वह विशिष्ट रसायन है जो आत्मा को निर्विकार चमकदार बनाता है ।

-सुमनचन्द्र दिवाकर -- बी.एस.सी., एल.एल.बी.

गली नं. - २, पुष्पराज कॉलोनी, सतना (म.प्र.)

६.७.९६

परम पूज्य आराध्य गुरुवर्य परम पूज्य आचार्यश्री १०८ विराग सागर जी महाराज द्वारा भव्य जीवों के स्थितिकरणार्थ ''शुद्धोपयोग'' पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया है । जिसमें प्रायः सभी भ्रांतियों का निराकरण अत्यन्त सरल, सुंदर एवं सुबोधदायक शब्दों में खोजपूर्ण व शोधित दृष्टियों से आगम के अनुरूप तथ्य पूर्ण रीति से भलीभाँति किया गया है। अतः संसार से भयभीत प्राणियों के लिए यह पुस्तक अनुपम व अद्वितीय है । और अथक परिश्रम और सत्यता सिद्ध प्रतीक स्पष्ट प्रमाण है ।

श्रुत परंपरा को जीवित रखने व्यक्ति और समाज को धार्मिक अनुष्ठानों द्वारा अभीष्ट उपलब्धियों हेतु भावनाओं को सुबोध संबल तथा प्रवृत्ति में हठ एवं दुराग्रह पूर्ण अज्ञानता (तीव्र मिथ्यात्व) से बचाने के लिए आचार्य श्री का यह सौहार्द्र पूर्ण उपकार स्मरणीय एवं स्तुत्य भी है । समस्त प्रमाण भी आगमानुसार श्रुत परम्परा की धारा में अबाधित आगम युक्ति एवं अनुभूति का संगम विशेषतः रुचि, प्रतीति एवं अनुभूति की त्रिवेणी है ।

-हजारीलाल शांति किशोर जैन सोहाने

मेरी दृष्टि में आज के समय में दिग्भ्रमित प्राणियों को शुद्धोपयोग कृति सन्मार्ग दर्शक सिद्धि होगी आशा ही नहीं मुझे पूर्ण विश्वास है कि भविष्य में शुद्धोपयोग पुस्तक शुद्धोपयोग डिक्शनरी (कोष) का काम करेगी ।

-वीरेन्द्र कुमार जैन

अध्यक्ष - सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन

विराग विद्यापीठ, भिण्ड

परम पूज्य आचार्य श्री ने खजानें से मोती चुन-चुन कर सभी के कल्याणार्थ माला गूंथ कर पुस्तक के रूप में प्रस्तुत की है जिसमें आगम वारिधि से प्राप्त नय आदि का प्रमाण सहित सटीक सरल भाषा में उल्लेख किया है, जिसके पढ़ने से कई भ्रांतियों का निराकरण स्वयमेव हो जाता है ।

पाप-पुण्य जैसे कई गंभीर विषयों की व्याख्या इतनी सरल भाषा में की गई है कि मुनियों, श्रावकों एवं साधारण श्रावकों के लिये भी यह पुस्तक एक आईना है जिससे अपना प्रतिबिंब देखकर आत्म कल्याण कर सकते हैं ।

-जिनेन्द्र कुमार जैन --सिरोंज

एक कुशल चिकित्सक भिन्न - भिन्न प्रकार की रस, भस्म, चूर्ण एवं रसायन आदि मिश्रण करके रोगी को रोग मुक्ति बाबत पुड़िया बनाकर देता है । रोगी पुण्य तथा पुरुषार्थ के समागम से मुक्त हो जाता है ।

ठीक इसी प्रकार आचार्य श्री ने ४५ ग्रंथों के संदर्भ देकर (मानों इतनें प्रकार के रसायनों का मिश्रण करके) ग्रंथ की रचना की । रसायनों का निर्माण श्रम साध्य है तो उससे भी अधिक ग्रंथों का अध्ययन आत्मसात करके 'शुद्धोपयोग ग्रंथ' की रचना भी कम श्रम साध्य नहीं है ।

इस ग्रंथ का जो भी वाचन, अध्ययन, मनोयोग से करेगा वह अवश्य ही मोक्षमार्ग को प्रशस्त कर शिवपुर को प्राप्त करेगा ।

-रमेशचंद्र पाटनी

---गुना

शुद्धोपयोग पुस्तिका प्राप्त हुई । विषय वस्तु अत्यंत सात्विक है । कागज, छपाई, साईज, स्वच्छता, भाषा, शैली, टाईटिल, चित्र आदि साज सज्जा सब एक से बढ़कर एक हैं, भव्य एवं आकर्षक हैं सभी के काम की हैं।

जैन धर्म अत्यंत उदार, शांत एवं सौहार्द्र का विस्तारक है । आशा है पाठक इसके अध्ययन से पूरा लाभ उठायेंगे ।

– जानकी नाथ शर्मा

कल्याण गीता प्रेस -- गोरखपुर

परम पूज्य आचार्यश्री विराग सागर द्वारा लिखित शुद्धोपयोग पुस्तक आद्योपान्त देखने का अवसर मिला । मुझे यह लिखने में अत्यंत प्रसन्नता हो रही है कि आचार्य श्री ने एक विवादग्रस्त विषय को बहुत ही सरल ढंग से सप्रमाणिक सुलझाने का सफल प्रयास किया है । एतदर्थ आचार्यश्री के प्रति हम कृतज्ञता व्यक्त करते है ।

शुभोपयोग सर्वथा हेय नहीं कहा जा सकता है । वह वस्तुतः शुद्धोपयोग का ही कारण है । यह शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है और १२ वें गुणस्थान में पूर्ण उत्कृष्टता को प्राप्त होता है । इस तथ्य को आचार्य श्री ने इस लघु पुस्तिका में मूल प्रमाणों के साथ सिद्ध करने का यथाशक्य प्रयत्न किया है ।

प्रोफेसर (डॉ.) भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

भूतपूर्व अध्यक्ष पालि – प्राकृत विभाग

नागपुर विश्वविद्यालय

सदर, नागपुर – ४४० ००१

फोन : ०७१२ – २५४१७२६ दि. ०१.०६.०४

विराग प्रसून

त्रस के शरीर में जो समस्त वीर्य है वह ब्रह्मा है, मांस विष्णु है और अस्थियों – हड्डियों का समूह महेश है, इसलिये ब्रह्मा, विष्णु और महेश का रूप त्रस का मांस कैसे खाया जा सकता है।

आद्यमित्याक्षर

शुद्धोपयोग का प्रथम संस्करण सुधीजनों में इतना समाहत हुआ कि अत्यल्पकाल में ही इसकी समस्त प्रतियाँ समाप्त हो गई और यह काफी समय से अनुपलब्ध होने से स्वाध्यायशील श्रावकों की बैचेनी को भी बढ़ाने लगी - जिससे इसके पुन: प्रकाशन का निर्णय विद्यापीठ ने लिया । यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि इसका यह संशोधित तथा परिवर्द्धित **द्वितीय संस्करण** पाठकों के हाथों में धर्मप्रभावना की भावना से पुन: समर्पित है । इसमें देश के सहस्त्रों विद्वानों द्वारा प्राप्त सुझाव-संशोधन आदि का समुचित उपयोग कर कृति को पूर्णता प्रदान करने का प्रयास किया है । आगे भी विद्वज्जनों के जो भी सुझाव होंगे उनका हम बराबर समादर कर उपयोग करेंगे ।

वस्तुत: इसके प्रकाशन में विलम्ब का मुख्य कारण विषय वस्तु की जटिलता, तदनुरूप प्रमाणों की खोज-बीन तथा देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार भौतिक कठिनाइयों की प्रचुरता भी एक अंग के रूप में सदैव रही है । पूज्य आचार्य श्री जी की जैन आगमोक्तश्रमण चर्या, सत्साहित्य का अध्ययन, मनन, चिंतन-लेखन तो अन्य आनुषंङ्गी कारणों में स्वत: समाविष्ट हैं । पर यह संतोष की बात है कि विषयवस्तु-बिन्दुवार सैटिंग तथा आगमोक्त प्रमाणों का यथायोग्य संयोजन होने से प्रस्तुत संस्करण सुविज्ञ पाठकों के साथ जनसामान्य के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है ।

शुद्धोपयोग की विषयवस्तु को शब्द संरचना में संघटित करना जब इतना क्लिष्ट है तब उसकी प्राप्ति कितनी कठिन न होगी, पाठक स्वयं इसे पढ़कर जान सकेंगे । लेखक तो योगी ठहरे, यह तो उनके लिए सदैव अनुभवगम्य रहा ही है - शब्दगम्य तो उन्होंने मात्र साम्पन्य जिज्ञासुओं की भावना को ध्यान में रखकर बताया है । यह उनका हम पर महान उपकार है जिसके लिए हम सभी उनके कृतज्ञ रहेंगे । देश के अनेक विद्वानों ने अपने समीक्षात्मक सुझाव भेंजे उनमें से कतिपय ही यहां प्रकाशित किये जा सके हैं - जिनका इस संस्करण में समावेश नहीं हो सका, उन सभी से हम क्षमाप्रार्थी हैं तथा अनुरोध है कि आप सभी अपनी सम्मति अवश्य विद्यापीठ के पते पर भेज कर हमारा मार्गदर्शन करें जिससे आगामी समय में उनका लाभ उठाया जा सके ।

प्रस्तुत संस्करण के पुण्यार्जक श्रीमान् **श्री पारसकुमार, महावीर प्रसाद, शांतिलाल, गोरेगाँव, मुंबई (महा.)** का भी विद्यापीठ साधुवाद करती है जिनके प्रयास से यह

कृति पाठकों के हाथों तक शीघ्रता से पहुँच सकी । भविष्य में भी जिनवाणी की प्रभावनाकार्य में आपकी प्रबल भावना बनी रहेगी, ऐसी आशा है ।

इसके मुद्रण में श्रीमान का सहयोग सदैव अविस्मरणीय रहेगा अन्यथा यह काल की अनन्त सीमा को स्पर्श करती हुई हमारे धैर्य को न जाने कब तक तौलती रहती । संतोष की बात है - भिलाई से सहेजा कार्य नागपुर में शीघ्रता से पूर्ण हुआ । अंत में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष में अनेक लोगों का सहयोग प्राप्त हुआ उनके प्रति भी हम कृतज्ञ भावना से आभार व्यक्त करते हुए भविष्य में भी सहयोग की आकांक्षा करते हैं । "**परोपकाराय सतां विभूतिय:**" की मंगलमयी भावना के साथ पाठकों के हाथों में मूल्यांकन हेतु यह संस्करण समर्पित है - क्योंकि उनका उत्साह ही हमारा संबल है जिसे पाने की हमारी दिली तमन्ना सदैव रही है ।

आषाढ़ी आष्टाह्निका

वीरेन्द्रकुमार जैन

अध्यक्षश्री

सम्यग्ज्ञान दिग. जैन विराग विद्यापीठ,

बताशा बाजार, भिण्ड (म.प्र.)

२१वीं सदी के ज्योति पुञ्ज गणाचार्य विराग सागरजी

डॉ. के. एल. जैन, प्राचार्य

शासकीय कन्या महाविद्यालय, टीकमगढ़ (म.प्र.)

अपरिमित प्रज्ञा के धनी - 'संत' वह है जिसकी सरलता का कोई अंत न हो । जो संसार से विरक्त होकर स्व पर कल्याण की भावना में निरत हो, जिसके अन्तः करण में वात्सल्य और स्नेह का निर्झर सतत प्रवाहमान हो । जिसकी वाणी से जन जन की कल्याण कामना के भाव निसृत हो, जिन्होंने ज्ञान की अतुल गहराईयों में उतरकर सृजन के मौलिक स्वरूप को गढ़ा हो । ऐसे अनेक विशेषणों से विभूषित प्रज्ञा के धनी आचार्य विराग सागरजी का इस धारित्री पर अवतरण इस सदी के एक अन्यतम घटना ही मानी जायेगी ।

असाधारण व्यक्तित्व के धारक - एक ऐसा व्यक्तित्व जिसमें जादुई तिलस्म का आकर्षण हो, यह आकर्षण है उनके त्याग का, साधना का, तप का, चर्या का और उस असाधारण ज्ञान का जिसके कारण श्रावक दीवानगी की हदों को भी पार कर जाता है । आपकी सौम्य मुद्रा के दर्शन मात्र से ही दर्शनार्थियों के कालुष्य का विरेचन हो जाता है । आपके सान्निध्य का सुफल और आशीष का हस्तकमल जीवन को निर्जर और निरामद बना देता है । यही वजह है कि आचार्य विराग सागरजी जहाँ से निकल पड़ते हैं वहाँ के लोग उनके हमेशा - हमेशा के लिए बन जाते है ।

अनोखे बचपन का विरल सम्मोहन - दमोह (म.प्र.) जिले के पथरिया ग्राम में पाषाणों के बीच इस हीरे का अवतरण २ मई १९६३ (वैशाख शुक्ल ९ वि.स. २०२०) को रात्रि ९ बजे हुआ । पुण्यात्मा सेठ ब्र. श्रीमान कपूरचंद जी (**सघस्थ परम पूज्य गणाचार्यश्री १०८ विराग सागर जी महाराज**)एवं जननी श्रीमती श्यामादेवी (आपसे ही दीक्षित एवं समाधिस्थ पूज्य आर्यिका श्री विशान्तश्री माताजी) की कोख से एक ऐसा कमल (अरविन्द)खिला जिसने अपनी अनुपम सुगन्धी से सारे बुन्देलखण्ड को महका दिया। कभी-कभी आगत की आश्चर्य चकित करने वाली घटनाएँ वर्तमान में ही अपना संकेत देने लगती हैं । कुछ ऐसा ही हुआ बालक अरविन्द के साथ, जब वे बचपन में नग्न अवस्था में खड़े होकर हाथ में

झाड़ू लेकर (पिच्छी का प्रतीक) माँ से बोले- मुनिराज का पड़गाहन करो । क्योंकि कुछ दिन पूर्व उन्होंने इस तरह के दृश्य को देखा था । उक्त दृश्य का आत्म पटल पर अंकन आज आचार्य विराग सागरजी के रूप में परिलक्षित हो रहा है । यह इस धरित्री का पुण्य उदय ही माना जाएगा ।

बालक अरविन्द की बाल्य अवस्था की क्रियाएँ सम्मोहन की सीमाएँ लाँधने में समर्थ थीं, सेवा कार्य के हद दर्जे की दीवानगी उनमें कूट-कूट कर भरी हुई थी । इसी भावना के कारण बालक अरविन्द सभी को सम्मोहित कर लेते थे । संवेदनशीलता की भावना ने उन्हें प्राणी मात्र की कल्याण कामना से आपूरित कर दिया था । यही कारण है कि आचार्य श्री विराग सागरजी अहर्निश साधना की असीम ऊँचाईयों की ओर अत्यन्त तीव्रता के साथ अग्रसर हो रहे हैं ।

अर्जन और सर्जना के विविध सोपान - बालक अरविन्द की प्रारंभिक शिक्षा पथरिया और इसके उपरांत श्री शांति निकेतन दिगम्बर जैन संस्कृत विद्यालय कटनी में हुई । निष्णात गुरु पं. जगन्मोहनलालजी के सान्निध्य ने प्रज्ञा की अन्तर्ज्योति को जागृत कर दिया । ज्ञानाराधना की ललक और वैराग्य भावना की व्यग्रता ने मनोयोग पूर्वक अर्जन की प्रवृत्ति को परवान चढ़ने का काम किया, परिणाम स्वरूप १६-१७ वर्ष की अवस्था में दि. २० फरवरी १९८० फाल्गुन शुक्ल ५ वि.स. २०३६ बुढ़ार जिला शहडोल (म.प्र.) में परम पूज्य तपस्वी सम्राट आचार्य श्री सन्मति सागरजी से आपने क्षुल्लक दीक्षा ली तब आपका नाम पू. १०५ क्षुल्लक पूर्णसागर जी रखा गया, २०-२१ वर्ष की अल्पायु में दि. ९ दिसम्बर १९८३ मार्गशीर्ष शुक्ल ५ वि.स. २०४० को औरंगाबाद जिला (महाराष्ट्र) में वात्सल्य रत्नाकर परम पूज्य आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज से मुनि दीक्षा ग्रहण की, तब आपका नाम मुनिश्री विराग सागर जी रखा गया। दीक्षा ने शिक्षा के विकास क्रम को गंगा की धारा के समान प्रवाहमान रखने में एक ऊर्जयन्त - ऊर्जा से संचरित रखा, जिससे अल्प समय में आप न्याय, व्याकरण, दर्शन, साहित्य व आध्यात्म के महान चितेरे बन गए ।

महाव्रती की महती प्रभावना - आज का वातावरण विसंगतियों और विद्रूतताओं की कालिमा से कलंकित है । ऐसे वातावरण में मनुष्य का नैतिक विकास हो पाना काफी दुष्कर जान पड़ता है । सर्वत्र हिंसा, अनैतिकता, बेईमानी और झूठ का बोलबाला है, स्वार्थ की संकीर्णताओं ने व्यक्ति को संवेदन शून्य और हृदयहीन बना दिया है, प्रेम और भाईचारे के सद्व्यवहार की अपेक्षाएँ दिनोंदिन क्षीण होती जा रही है - ऐसे वातावरण में महाव्रती का संदेश जीवन में ऐसी ऊर्जा का संचार करता है । जिससे की जीवन की धारा ही बदल जाती है । आचार्य

विराग सागरजी ने भ्रमित युवा पीढ़ी को आचरण और नैतिक मूल्यों की दृष्टि से जो दिशा - दृष्टि प्रदान की है वह इस सदी की श्रेष्ठतम घटनाओं में इतिहास के पन्नों पर स्वर्णाक्षरित की जायेगी ।

कुशल संघ संचालक - मोक्ष के आकांक्षी, वीतरागी पथ के पथिक, पदों से अलिप्त मुनि श्री विराग सागरजी महाराज की उत्तरोत्तर साधना, अनुशासन एवं आगमिक प्रणाली से प्रभावित होकर अनेक आत्म हितैषी उनके साथ आत्म-साधना करने के लिए तत्पर हो गये, साथ ही लगभग १० आचार्य परमेष्ठी उनके मनोज्ञ व्यक्तित्व को देखकर उन्हें अपना आचार्य पद देकर संघ का भार सौंपना चाहते थे तथा कितने ही बार तो अनेक आचार्यों ने उनके आचार्य पद की घोषणाएँ की लेकिन मुनि विराग सागर जी ने 'मैं अभी इस योग्य नहीं हूँ', या 'मेरे गुरु अभी विराजमान है,' ऐसा कहकर उसे स्वीकार न किया फिर भी समय बड़ा बलवान होता है और ऐसा योग आया कि परम पूज्य आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज की आज्ञा एवं आशीर्वाद तथा आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज एवं आचार्य श्री सुमति सागर जी आदि अनेक आचार्यों के आशीर्वाद से आचार्यत्व के गुणों से परिपूर्ण होने के कारण चतुर्विध संघ, द्रोणगिरि की समाज, पं. दरबारीलाल जी कोठिया (बीना) आदि अनेक विद्वानों एवं श्रेष्ठियों ने द्रोणगिरि सिद्धक्षेत्र पर दि. ८-११-१९९२ (कार्तिक शुक्ल १३, वि.सं. २०४९ को) उन्हें आचार्य पद से विभूषित कर अपने भाग्य को सजाया था । इस प्रकार साधना-पथ पर उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर विराग सागरजी ने अपने ज्ञान, ऊर्जा और साधना के द्वारा आत्म कल्याण और लोक कल्याण के जिन शीर्ष प्रतिमाओं को स्थापित किया यह असाधारण ही माना जायेगा।

वर्षायोग के अविस्मरणीय क्षण - संयम काल के दौरान आपने संपूर्ण भारत वर्ष में भ्रमण कर प्रभावना करते हुए धर्म की ध्वजा को फहराया तथा इस दौरान जहाँ - जहाँ भी आपका चातुर्मासिक प्रवास रहा, वहाँ आपके सम्मोहक व्यक्तित्व से जैन जैनेतरो पर ऐसी गहरी छाप पड़ी की नास्तिक भी आस्तिक हो गये । प. पू. गुरुवर के वृहद प्रभावना के साथ दुर्ग (म.प्र. १९८०), नागपुर महा. (१९८१), कारंजा (लाड़) (महा. १९८२ व ८३), भावनगर (गुज. १९८४), पांचवा (राज. १९८५), निमाज (राज. १९८६), जयपुर (राज. १९८७), भिंड (म.प्र. १९८८ व ८९), टीकमगढ़ (म.प्र. १९९०), श्रेयांसगिरि (म.प्र. १९९१), द्रोणगिरि (म.प्र. १९९२), श्रेयांसगिरि (म.प्र. १९९३), बीना (म.प्र. १९९४), ललितपुर (उ.प्र. १९९५), जबलपुर (म.प्र. १९९६), भिंड (म.प्र. १९९७, ९८ व ९९), सम्मेदशिखरजी (झारखंड २०००), गया (बिहार २००१), श्रेयांसगिरि (म.प्र. २००२), भिलाई (छ.गढ़ २००३), कारंजा लाड़ (महा. २००४) मूड़बिद्री (कर्नाटक २००५),

मेलचित्तामूर (तमिलनाडु, २००६), उदगाँव (महा. २००७), बोरीवली (मुंबई-महा. २००८), गांधीनगर (गुजरात-२००९) में चातुर्मास सम्पन्न हुए ।

सयंमी सृजक गुरुदेव - पूज्य गुरुओं के प्रति विनय भाव तथा शिष्यों के प्रति वात्सल्य एवं करूणा भाव तथा समाज के सही मार्गदर्शक एवं देव-शास्त्र-गुरु के प्रति परमागाढ़ श्रद्धा को देख अनेक भक्तों ने आपकों अपना गुरु चयन कर आपका शिष्यत्व धारण कर अपने जीवन को मोक्षमार्ग के प्रति समर्पित किया व आपके साथ चलने को तैयार हो गए, आपने संयम काल के २९ वर्षों में भारत के १० प्रांतों की लगभग ४०,००० कि.मी. पैदल यात्रा कर अनेकों सिद्धक्षेत्रों, अतिशय क्षेत्रों एवं नगरों में आध्यात्मिक साधना कर अनेकों भव्यों के दीक्षाएँ दी हैं जिसमें अतिशय क्षेत्र बरासों (भिण्ड) की १३ मुनि दीक्षाएँ, ललितपुर की २१ दीक्षाएँ तथा श्रवणबेलगोला की २५ दीक्षाओं ने जन मानस पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है और जिससे जैन - जैनेत्तरों में महत्ती प्रभावना हुई । यही कारण है कि आप एक विशाल एवं श्रेष्ठ वटवृक्ष की तरह है जिसकी छत्रछाया में ७ आचार्य, ४७ मुनि, ४१ आर्यिका, ३ ऐलक, २२ क्षुल्लक, ६ क्षुल्लिकाएँ एवं अभी आपके निर्देशन में लगभग १५० से भी अधिक ऐसे भी विनय साधक है जो अंतेवासिन के रूप में अपनी साधना में संलग्न हैं तथा आपके कुशल निर्यापकत्व में अनेक साधुओं एवं साध्वियों ने समाधि कर अपने जीवन को सार्थक किया है।

अनुपम अनुशासन एवं चारित्र साधक - चारित्र संवर्धक अनुशासन के पथानुगामी गुरुदेव आप मात्र शिष्यों को दीक्षा ही नहीं देते किन्तु उन्हें शिक्षा दे अनुशासन में भी रहना सिखाते हैं । जो शिष्य अनुशासनवान होते हैं उन्हें सतत संस्कारित कर ऊँचा उठाते हैं । अपने शिष्यों में आध्यात्मिक संत युवा आचार्य श्री विशुद्ध सागरजी, क्षमामूर्ति आचार्य श्री विशद सागर जी, नवचेतना के दूत आचार्य श्री विभवसागरजी, ज्ञानमनीषी आचार्य श्री विमर्श सागरजी, आचार्य श्री विनिश्चय सागरजी, आचार्यश्री विहर्ष सागर जी तथा प्रवचन पटु आचार्य श्री विमद सागर जी आदि को तो आपने २००५ कुंथुगिरि से ही आचार्य पद की घोषणाओं कर दी थी, किन्तु धन्य है ऐसे शिष्यों को, कि उन्होंने पद की होड़ नहीं की । अपितु उक्त महाराजों में से अभी ३ मुनिराजों को गुरुदेव ने ही अपने हाथों से उन्हें आचार्य पद के योग्य शिक्षा एवं प्रायश्चित ग्रंथ पढ़ाने के पश्चात औरंगाबाद में ३१ मार्च २००७ को आचार्य पद से विभूषित कर अपने हृदय की उदारता का साकार दर्शन दिया।

अनुशासक वही हो सकता है जो प्रथम स्वयं ही अनुशासन के सांचे में ढ़ला हो, वे अनुशासन में मात्र ढ़ले ही नहीं, किन्तु समग्र शिष्यों को भी अनुशासन में

ढ़ाला है यद्यपि अनुशासन विहीन ईर्ष्यालु कुछ शिष्यों ने अपना ग्रुप बना दैविक झूठे चमत्कारों की ख्याति अर्जन हेतु अनुचित प्रयत्न किये किन्तु आचार्यश्री ने उन्हें प्रथम समझाया जब वे नहीं माने तो उन्हें संघ से बहिष्कृत कर दिया जिससे उन लोगों ने समय-समय पर आप पर छींटा कशी भी की, किन्तु आप जरा भी विचलित नहीं हुए । सूर्य की भाँति प्रकाशमान ही होते रहे हैं तथा आपने अनुशासन में किंचित् भी ढ़ील नहीं दी और न किसी परिस्थिति के सन्मुख घुटने टेके हैं। यहीं कारण हैं उनमें से कतिपय लोगों ने क्षमायाचना कर प्रायश्चित लिया । यही देख स्वस्ति श्री भट्टारक चारूकीर्ति जी श्रवणबेलगोला के मुख से शब्द प्रस्फुरित हुए कि "आचार्य विराग सागरजी एवं उनका संघ चलती-फिलती युनिवर्सिटी है।"

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी - वैराग्य को दृढ़ करने एवं साधना को निर्दोष बनाने तथा आगमानुकूल चर्या बनाने के लिए, समय का सदुपयोग, धर्म ध्यान की वृद्धि एवं केवलज्ञान की उत्पत्ति में कारणभूत अहर्निश आचार्य प्रणीत शास्त्रों के स्वाध्याय में आप निमग्न रहते हैं तथा अपने साधु समूह को भी निरंतर स्वाध्याय के महत्त्व को बताकर उन्हें अध्ययन के लिए प्रोत्साहित एवं प्रेरित करते रहते हैं, यही कारण है कि आपने षटखण्डागम श्री धवला जी की ५ वर्षों में १६ वाचनायें बुंदेलखण्ड में मूर्धन्य विद्वानों की उपस्थिति में निर्विघ्न पूर्ण की तथा गुजरात के अहमदाबाद नगर के उस्मानपुरा में कषाय पाहुड के जय धवल नामक ग्रंथ पर निर्विघ्न पूर्ण हुई । साथ में अनेक स्थानों में सम्यग्ज्ञान शिक्षण शिविर व विद्वत गोष्ठि का सफल आयोजन किया तथा आपने अपने शिष्यों को महापुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, अष्टसहस्त्री, त्रिलोकसार, तिलोपण्णति, गोम्मटसार, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, मूलाचार, आचारसार जैसे महान ग्रंथों को अध्ययन कराया, जिससे स्पष्ट है कि आप चारों अनुयोगों के प्रकाण्ड विद्वान हैं ।

श्रुतसेवा - ज्ञान के प्रति अभिरूचि होने से आप निरंतर श्रुत सेवा में तल्लीन रहते हैं और आगम के चिंतन एवं मनन के द्वारा तत्त्व की गहराई में उतरकर उसके गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन कर आगम की पुष्टि करते हुए लोगों की भ्रांति को दूर कर उनके सम्यग्दर्शन को निर्मल करते हैं । इस प्रकार आपने आगम के आधार से अपने साधना काल में अनेक कृतियों का सृजन कर माँ जिनवाणी के भण्डार को समृद्ध कर एवं पर के मिथ्यांधकार को दूर कर ज्ञान का प्रकाश किया है, जिसमें मुख्य कृतियाँ सम्यग्दर्शन, व्यसन विचार, जिनेन्द्र दर्शन पूजन, शुद्धोपयोग, तीर्थंकर दिव्य दर्शन, सल्लेखना से समाधि, आगम चक्खू साहू, परम दिगम्बर जैन मुनि, सर्वोदयी दिगम्बर जैन धर्म आदि है । जिसमें शुद्धोपयोग कृति, जिस पर लगभग १५० विद्वानों ने समीक्षा कर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है क्योंकि यह

कृति अनेक मिथ्या विकल्पों का निसर्ग करती है । साहित्य सृजन की इस श्रृंखला में प.पू. कुंदकुंदाचार्य स्वामी द्वारा रचित वारसाणुपेक्खा एवं रयणसार नामक ग्रंथ पर आपके द्वारा लिखी गई संस्कृत सर्वोदयी टीका एवं रत्नत्रय वर्द्धिनी टीका जिनागम के लिए एक ऐतिहासिक उपलब्धि है क्योंकि प. पू. आचार्य कुंदकुंदस्वामी के इन दो ग्रंथों पर संस्कृत टीका अभी तक अनुपलब्ध थी, श्रुत सेवा में आपका यह महान अवदान युंगात तक सदैव स्मरण किया जायेगा । इस तरह सर्जना के क्षेत्र में लगभग ५० पुस्तकों के द्वारा सरस्वती के भण्डार को भरने का आपने जो भगीरथ कार्य किया है वह अनुपम है इनमें भारतीय साहित्य, धर्म, दर्शन, ज्ञान और चारित्र के ऐसे बहुविध रूप देखने को मिलते हैं जिन्हें देखकर आचार्यश्री की बहुमुखी प्रतिभा का सहज ही आकलन किया जा सकता है ।

आपकी सत् प्रेरणा से श्री सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन विराग विद्यापीठ, भिण्ड अनेकों धार्मिक एवं लौकिक (शिशु, प्राईमरी, मिडिल एवं हाईस्कुलीय) शिक्षायें प्रदान कर रही हैं । इसी प्रकार पन्ना में श्री सम्यग्ज्ञान दिग. जैन स्कूल, ब्रजपुर में श्री सम्यग्ज्ञान दिग. जैन विद्यालय भी अपनी मिडिल तक की शिक्षा प्रदान कर रहे हैं । बीना में आचार्य विराग सागरजी बी.एड. कॉलेज ने अल्प समय में बहुत बड़ी सफलता हासिल की है ।

धर्म प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में विराग वाणी मासिक पत्रिका निरन्तर हर स्तर के आलेखों से भरपूर रहती हुई जन मानस को आकर्षिक करती है ।

बहुआयामी विशेषताओं से समन्वित पूज्य आचार्यश्री के दर्शन इस रूप में भी करें :-

1. जो T.V., मोबाईल, लेफ्टोफ, पंखा, कूलर एंव A.C. का उपयोग नहीं करते हैं ।
2. जो बाथरुम में लघुशंका एवं शौचालय में दीर्घशंका(शोच)नहीं जाते हैं।
3. जो करीब २३ वर्षो से नाखून अपने हाथ से ही निकालते है (ब्लेड, नेलकटर या कैंची से नहीं निकालते हैं)
4. जिन्हें कभी थूकते हुए नहीं देखा गया है।
5. जो आहार में द्विदल नहीं लेते है।
6. दही व तेल का जिनका आजीवन त्याग है।
7. सभी प्रकार की हरी पत्तियाँ एवं (मटर के अलावा) सभी हरी फलियों का जिनका आजीवन त्याग हैं।

8. जो प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी को नीरस करते हैं ।

9. जो किसी भी महिला से एकान्त में अकेले चर्चा नहीं करते है ।

10. जिनका कोई प्रोजेक्ट नहीं है तथा चंदा-चिट्ठा से दूर रहते हैं ।

11. जिनके संघ में वाहन तथा अनावश्यक परिग्रह नहीं हैं ।

12. जिनके संघ में कोई संघ संचालिका नहीं है ।

13. जो तंत्र, मंत्र नहीं करते तथा किसी की कुण्डली एवं हाथ आदि नहीं देखते हैं ।

14. जो औषध (दवाईयाँ) को न रखते है न बताते हैं ।

15. जिनमें पंथ-परंपरा का कोई दुराग्रह नहीं है ।

16. जो गरीब और अमीर को समान रूप से देखते हैं ।

17. जो सदैव ज्ञान-ध्यान और तप में लीन रहते हैं ।

18. जो किसी की बुराई/निंदा न सुनते हैं और न करते है।

19. बड़े-बड़े उपसर्गों में भी जिनकी बड़ी धैर्य व समता के दर्शन हुए ।

20. जिन्होंने अभी तक विभिन्न मंत्रों की लगभग तीस लाख से भी अधिक जाप की हैं। जो विहार आदि के समय में भी प्रायः जाप करते रहते हैं।

21. जो श्वासोच्छ्वास में कार्योत्सर्ग करते हैं ।

22. जो मुनिचर्या के 28 कृतिकर्म प्रतिदिन करते हैं ।

23. जो अपने संघस्थ साधुओं को आगम, अध्यात्म, सिद्धांत, व्याकरण, न्याय आदि की शिक्षा के साथ नैतिक शिक्षा भी देते हैं ।

24. जो संघस्थ आबाल-वृद्धों का पूरा ध्यान रखते हैं ।

25. जिन्होंने अभी तक कर्मदहन, णमोकार पैंतीसी, सर्वदोष परिहार, प्रत्याख्यान, पंचविंशतिका, वचनगुप्ति, नीतिसागर, षड्रसी, भक्तामर, समवशरण व्रत कर लिये हैं तथा चारित्र शुद्धि व्रत कर रहे हैं ।

26. जो प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी को प्रायः २२ घंटे का मौन रखते हैं । तथा प्रतिदिन जो आवश्यकों के अलावा भी एक घंटे का मौन रखते हैं ।

27. विशाल संघ के संचालन की जिनकी अपूर्व ही क्षमता हैं ।

28. जिनका 10 अन्न एवं 15 हरी का आजीवन नियम हैं ।

प्रतिभा सम्पन्न गणाचार्य - १६-१७ अगस्त २००३ जब उपसर्ग के बादल आप पर मंडराये, तब आपकी एक आसन से ३५ घंटे की लगातार निराहार योग ध्यान साधना, अथाह समता, मेरुवत् संकल्प शक्ति से प्रभावित होकर छत्तीसगढ़ (दुर्ग, वैशाली आदि अनेक स्थानों) की समाज ने आपको '**उपसर्ग विजेता**' की उपाधि से अलंकृत कर अपने जीवन को कृतार्थ किया । २००४ के चातुर्मास काल में आपकी निर्मल साधना से प्रभावित होकर कारंजा समाज ने आपको '**चारित्र शिरोमणि**' की उपाधि से सम्मानित कर अपने आपको गौरवान्वित किया था ।

आपने अपनी कुशलता के द्वारा अल्पायु में ११८ पथिकों को मोक्ष की राह दिखाकर उनका मोक्षमार्ग प्रशस्त किया है इसलिए परम पूज्य गणाधिपति गणधराचार्य श्री कुंथुसागरजी महाराज ने २००५ में १५ आचार्यों एवं २०० साधुओं की उपस्थिति में जनसमूह के समक्ष आपको '**श्रमण रत्नाकर**' की उपाधि से सुशोभित किया था । आपने जो धवला ग्रंथ की १६ पुस्तकों की वाचना लगभग १५० विद्वानों की उपस्थिति में ५ वर्षों में पूर्ण की है इससे प्रभावित होकर २००५ में मूडबिद्री के भट्टारक श्री चारुकीर्ति जी एवं वहाँ की समाज ने आपको '**सिद्धांतरत्न**' की उपाधि प्रदान कर अपना अहोभाग्य समझा था । आपने अपने संयमी जीवन में अनेक आध्यात्मिक ग्रंथों का रसास्वादन किया है, कराया है इसलिए आप उपसर्गों से गुजरकर भी काँटों में गुलाब की तरह विकसित हुए अतः आपकी अध्यात्म साधना से प्रभावित होकर धर्माधिकारी डॉ. वीरेन्द्रकुमार हेगड़े जी ने २००५ धर्मस्थल में '**अध्यात्म योगी**' की उपाधि से विभूषित कर अपना गौरव बढ़ाया है । २००६ मेलचित्तामूर में स्वस्ति श्री लक्ष्मीसेन भट्टारकजी ने '**समता मूर्ति**' की उपाधि से, २००७ औरंगाबाद में त्रय आचार्य पद प्रतिष्ठा के अवसर पर परम पूज्य आचार्य श्री विशुद्ध सागरजी महाराज, परम पूज्य आचार्य श्री विभव सागर जी महाराज, परम पूज्य आचार्य श्री विमद सागरजी एवं वहाँ की समाज ने लगभग २५ संघों के नायक होने से आपको '**गणाचार्य**' तथा २००७ शिरड़शाहपुर में हुए श्री मल्लिनाथ श्री मज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक महोत्सव के पावन सुअवसर पर परम पूज्य आचार्य विभव सागरजी एवं सकल दिगम्बर जैन समाज ने '**वात्सल्य रत्नाकर**' की उपाधि से विभूषित कर अपने जीवन में गुरु महिमा के प्रकटीकरण पर अपने जीवन को सौभाग्यशाली बनाया ।

आपने अपने विगत २७ वर्षों के साधनाकाल में राष्ट्र के लगभग संपूर्ण प्रांतों में भ्रमण कर अहिंसा व शाकाहार का संदेश जन जन तक पहुँचाया है अतः सन्

२००७ में आपके मुनि दीक्षा के २५ वें वर्ष में प्रवेश करने पर कुंजवन उदगाँव में राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा महोत्सव के अवसर पर कुंजवन ट्रस्ट समिति उदगाँव, राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा महोत्सव समिति, राष्ट्रीय विराग युवा व महिला मंच भिंड तथा सांगली एवं विधायक कपूरचंद जी धुवारा ने आपको '**राष्ट्रसंत**' की उपाधि प्रदान की । इसी अवसर पर प. पू. निमित्तज्ञानी आचार्य श्री विमल सागर जी महाराज की कीर्ति को देश-प्रदेशों में प्रचार करने से प.पू. तपस्वी सम्राट आचार्य श्री सन्मति सागर जी महाराज ने आपको '**विमल कीर्ति**' की उपाधि दे वात्सल्य का असीम उपहार दिया, आपकी निर्मल छवि को देख सकल दिगम्बर जैन समाज व विमर्श सेवा समिति शिवपुरी ने '**आचार्य गौरव**' तथा सिद्धांत शास्त्रों के अभीक्ष्ण ज्ञान से ओत प्रोत होने से पं. धनपाल हबले सहित उपस्थित विद्वानों ने आपको '**सिद्धांत चक्रवर्ती**' की उपाधि से विभूषित किया । वर्तमान में न्याय एवं दर्शन की क्षीण होती विद्या का आपने स्वयं अध्ययन किया एवं विशाल शिष्य समूह को कराया इसलिए '**राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा वर्ष समापन समारोह २००८**' की भव्य आयोजना के अवसर पर श्री १००८ पार्श्वनाथ स्वामी देहरासर ट्रस्ट, गुलालवाड़ी, मुंबई सहित भट्टारक लक्ष्मीसेन स्वामी जी कोल्हापुर, भट्टारक लक्ष्मीसेन स्वामी जी मेलचित्तामूर, प्रतिष्ठाचार्य प्रदीप जैन, '**न्याय भास्कर**' की उपाधि प्रदान की । तथा इसी अवसर पर मुनि श्री विवर्जन सागर जी महाराज की भावना के अनुरूप सकल दिगम्बर जैन समाज आदम्पाकम (चेन्नई) तथा पं. सिहचंद्र जी शास्त्री ने आपको '**श्रमण सूरि**' की उपाधि से विभूषित किया । इसी श्रृंखलामें २००९ में १००८ श्री नेमीनाथ भगवान के साथ ७२ करोड़ ७०० मुनिराजों की निर्वाणस्थली श्री गिरनार जी सिद्धक्षेत्र पर हुई। सप्त मुनि दीक्षाओं के पावन अवसर गिरनार गौरव प.पू. आचार्य श्री निर्मल सागर जी महाराज ने '**आचार्यरत्न**' की उपाधि प्रदान कर असीम वात्सल्य का परिचय दिया।

इसी प्रकार आपके लिए समय-समय पर विभिन्न स्थानों पर विद्वानों ने उपाधियाँ दी, यथा सन् १९८८ बरासों में समाज ने '**क्रांतिकारी संत**,' १९९४ बीना की समाज ने '**बुंदेलखण्ड के प्रथमाचार्य**,' १९९५ जबलपुर में साहित्य मनीषी श्री सुरेश 'सरल' जी ने '**निस्पृही संत**,' १९९९ भिण्ड में पण्डित सुमतिचंद्र जी शास्त्री ने '**अध्यात्म सिद्धांत वारिधि**,' २००१ गया में श्री पण्डित लक्ष्मण प्रसाद जी ने '**न्याय मार्तण्ड**,' २००२ श्रेयांसगिरि में '**तीर्थ उद्धारक एवं संत शिरोमणि**,' २००४ राजिम में पण्डित श्री ऋषभकुमार जी ने '**समाधि सम्राट**' २००५ शमनेवाड़ी में परम पूज्य आचार्य गुणधरनंदी जी ने '**ज्ञान दिवाकर**' की उपाधि से विभूषित कर अपने आप को गौरवान्वित किया ।

कृतित्व एवं व्यक्तित्व की गौरव गाथा - आपके ऊर्जा पूर्ण महामानवीय जीवन पर श्री साहित्य मनीषी श्री सुरेश 'सरल' जी ने '**निस्पृही संत**' कृति तथा प्राकृत मनीषी प्रो. उदयचंदजी उदयपुर ने साहित्य विद्या से परिपूर्ण प्राकृत भाषा में '**विराग सेतु**' कृति लिख जन मानस को आचार्य श्री के असीम व्यक्तित्व से परिचय कराया है तो डॉ. लोकेश खरे ने आपके असीम कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर पी.एच.डी. कर डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की है ।

अहिंसा और मानव धर्म के संदेश वाहक - आज सर्वत्र हिंसा का साम्राज्य है । यह हिंसा किसी जीव की नहीं वरन् उन मूल्यों की है जो हमारी संस्कृति के प्रबल आधार है । सांस्कृतिक मूल्यों का आज जिस तरह से ह्रास हो रहा है वह अत्यन्त दुःखदायी है । मानवीय सम्बन्धों में जिस तीव्रता के साथ बेचारगी का बोलबाला बढ़ रहा है उससे आत्मीयता धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है । संवेदनशून्य मानव आज जिस मुकाम पर खड़ा है वह एकदम हताश, निराश और विवश है, ऐसे नैराश्य के वातावरण में आचार्य श्री की वाणी के द्वारा जिन अमृत वचनों की वर्षा जगह-जगह पर हो रही है वह संतप्त मानवों के लिए संजीवनी की तरह जीवनदायिनी का काम कर रही है । जीवन का अर्थ क्या है ? इसे अर्थवान बनाने के लिए किन-किन चीजों की आवश्यकता होती है ? इतिहास के द्वारा स्मरण पाना कैसे संभव है ? आदि; जीवन के उन शाश्वत सूत्रों का संदेश हमें आचार्य श्री के साहित्य में देखने को मिलता है । व्यक्ति को आज हम इस बात का बोध होना चाहिए कि सबसे बड़ा मानव धर्म है । इसकी रक्षा के लिए व्यक्ति को सतत सचेत रहना चाहिए । आचार्य श्री ने मानव धर्म और महावीर के प्रमुख सिद्धांत अहिंसा को जन-जन तक पहुँचाने का जो स्तुत्य कार्य किया है उसे इतिहास कभी विस्मृत नहीं कर पायेगा।

विषय सूची

१.	**शुद्धोपयोग का व्याकरण**	१
	शब्द सिद्धि	
२.	**योग और उपयोग :**	१-५
	भेद-प्रभेद, योग-उपयोग की भिन्नता, योग की परिभाषा, करण अर्थ में उपयोग, निमित्त अर्थ में उपयोग, आलम्बन अर्थ में उपयोग, योग की युगपत्प्रवृत्ति, गुणस्थानों में प्राप्ति	
३.	**आगमिक उपयोग के भेद - प्रभेदः**	६-७
	दर्शनोपयोग के चार भेद	
	ज्ञानोपयोग के आठ भेद	
	संसारी जीवों में उपयोग (चार्ट)	
४.	**आध्यात्मिक उपयोग**	८
५.	**उपयोग के भेद एवं स्वरूप**	९
६.	**आगम एवं अध्यात्म भाषा**	९
	१. आगम और आगम भाषा	९
	२. अध्यात्म और अध्यात्म भाषा	१०
	३. भाषा और नय में अंतर	११
	४. आगमिक और आध्यात्मिक नयों में अंतर	११
	५. नय वर्गीकरण चार्ट	१२
	६. नय लक्षण भेद का विहंगावलोकन	१२
७.	**आगमिक नयविषयक विवरण**	१३
	द्रव्यार्थिक नय एवं भेद	१४
	पर्यायार्थिक नय एवं भेद	१६
८.	**आध्यात्मिक नयविषयक विवरण**	१८
	१. निश्चयनय एवं भेद-शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय	१९-२०
	२. व्यवहारनय एवं भेद	२१
	सद्‌भूत व्यवहार नय (शुद्ध सद्‌भूत, अशुद्ध सद्‌भूत)	२२
	असद्‌भूत व्यवहारनय (उपचरित, अनुपचरित)	२३-२६
९.	**सौगत मत की व्यवहार संबंधी शंका का परिहार**	२७
१०.	**अशुभोपयोग**	२८
११.	**शुभोपयोग**	२९
	जिनागम में दो प्रकार का शुभोपयोग	३२
	१. मुक्तिहेतुक, २. पुण्यबंधक	
१२.	**धर्मध्यान और शुभोपयोग**	३२

	प्रशस्त राग से शुभास्त्रव	३३
	शुभयोग से संवर निर्जरा	३४
	मोक्षहेतुक शुभोपयोगी पुण्य आचरणीय	३६
	पुण्य का फल	३६
	मिथ्यात्व पूर्वक पुण्य हेय	३८
१३.	**पुण्य की निषेधात्मक धारणा का खुलासा**	३८
१४.	**शुद्धोपयोग**	४१
	लक्षण - परिभाषा एवं गुणस्थान क्रम से पात्रता	४१
	अभिमुख शब्द का खुलासा	४३
१५.	**गुणस्थानों में उपयोग**	४४
	१. प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व में शुभाशुभ उपयोग	४४
	२. द्वितीय तृतीय गुणस्थान में अशुभ की न्यूनता	४६
	३. गुणस्थान ४-६ में निर्वाणहेतुक शुभोपयोग	४६
	४. पंचम गुणस्थान में उपयोग का स्पष्टीकरण	४७
	५. शुद्धोपयोग श्रावकों को नहीं	४७
	निरावलंब ध्यान के निषेधात्मक करणों का खुलासा	५०
	६. प्रमत्त विरत गुणस्थान	५२
	७. सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान की विशेषता	५३
१६.	**शुद्धोपयोग के नामान्तर तथा स्वामी**	५४-५५
१७.	**सप्तम गुणस्थान में शुभोपयोग तथा धर्मध्यान**	५७
	आचार्य कुंदकुंद एवं आचार्य जयसेनजी का मत	५७
	स्वस्थानाप्रमत्त-सातिशयाप्रमत्त के श्रेणी आरोहण वावत विवेचना	५८
	गुणस्थान ४, ५, ६ में शुद्धोपयोग नहीं	५९
१८.	**अप्रमत्त गुणस्थान में वीतराग धर्मध्यानात्मक शुद्धोपयोग**	६०
	वर्तमान पंचम काल में संहनन का अभाव होने से वीतराग शुक्ल ध्यान का निषेध तथा मोक्ष का अभाव	६१
१९.	**उपशम-क्षपक सयोगकेवली, अयोगकेवली के ध्यान एवं चारित्र का विवेचन**	६३
२०.	उपसंहार : वर्तमान में आचरणीय मार्ग पर चलने की प्रेरणा	६४-६५

卐

शुद्धोपयोग

आज किसी भी स्वाध्यायी से यह तथ्य छिपा नहीं है, कि किसी भी संसारी प्राणी की पंच परावर्तन रूप कर्मबन्धन की समाप्ति श्रमण परंपरा में उपदिष्ट व्यवहार मोक्षमार्ग का अवलम्बन किये बिना त्रिकाल में भी संभव नहीं है तथा जिसके मूल में निश्चय मोक्षमार्ग स्वरूप शुद्धोपयोग की मुख्य भूमिका है । बिना शुद्धोपयोग के कोई भी भव्य प्राणी मुक्त नहीं हो सकता। वर्तमान में शुद्धोपयोग की जितनी चर्चा है उतनी ही तद्विषयक भ्रांतियाँ भी हैं । अतएव उसके सही स्वरूप को जानने, समझने की महान आवश्यकता है, क्योंकि अपूर्णज्ञान से स्व-पर अहित की बलवती संभावना प्रतिपल बनी रहती है । इसी बात को लेकर शुद्धोपयोग के संबंध में प्रचलित अनेक भ्रांतियों का निराकरण करते हुए उसके यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन यहाँ किया जा रहा है।

शुद्धोपयोग का व्याकरण :-

शुद्धोपयोग शब्द कर्मधारय समास से सिद्ध पद है यह समस्त विशेषण और विशेष प्रधान शब्दों में (पदविषयक तुल्याधिकरण में) होता है अत: **शुद्ध उपयोगः इति शुद्धोपयोगः** यह पद कर्मधारय समास से सिद्ध पद है ।[१] गुणसंधि होने पर (शुद्ध + उपयोग) शुद्धोपयोग पद बन जाता है।

शब्द सिद्धि :-

शुद्धोपयोग में 'शुद्ध' शब्द-निर्मल, पवित्र, असली, सार, निर्दोष, मलातीत, सत्य, स्वच्छ अर्थ को प्रकट करता है तथा उपयोग शब्द का आगमिक अर्थ है जीव का अनुविधायी परिणाम और आध्यात्मिक अर्थ है परिणति या अनुष्ठान। उपयोग शब्द भी दो पदों से मिलकर बना है उप + योग - यह भी कर्मधारय समास प्रधान शब्द है ।

योग और उपयोग :-

शास्त्रों में उपयोग यह एक पदात्मक है (उप + योग) जिसका अर्थ है योग के समीप या निकट । आगम ग्रंथों में भी योग अनेकार्थवाची हैं (१) यथा वर्षायोग, वृक्षमूलयोग, आतापनयोग, अभ्रावकाशयोग । ये सभी साधना प्रधान होने से आचार

---

१. पदे तुल्याधिकरणे विज्ञेयः कर्मधारयः । ४३१ ।
यस्मिन् समासे द्वे पदेतुल्याधिकरणे भवतः स कर्मधारयो भवति । भिन्नप्रवृत्ति निमित्तयोः शब्दयोरेकाधिकरणे समावेशस्तुल्याधिकरणम्। का. व्या. पृ. ४११ टी.

मूलक हैं । इस योग से ही योगी शब्द की सिद्धि होती है ।[२] (२) कर्मयोग कर्मास्रव में कारणभूत क्रिया है इसे योग कहते है ।[३] यह योग आत्मप्रदेशों में परिस्पंदन (कंपन) हलन-चलन उत्पन्न करता है ।[४] जिससे विस्रसोपचय रूप कार्माणवर्गणा कर्म रूप से परिणित होती है, इस क्रिया विशेष से नवीन कर्मों का आस्रव (आगमन) होता है । इस योग का मुख्य कारण मन-वचन-काय की प्रवृत्ति है । कारण में कार्य का उपचार करने से मन-वचन-काय की भी योग यह संज्ञा हो जाती है । तथा प्रत्येक को पृथक्-पृथक् रूप से योग मानकर उसके भेद-प्रभेद भी कहे गये हैं ।

यथा मनोयोग, वचनयोग, काययोग, (मन के निमित्त से, वचन के निमित्त से, काय के निमित्त से होने वाले आत्म प्रदेशों का परिस्पंदन) तथा उत्तर भेद सहित इनके १५ भेद हो जाते हैं (सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, उभय मनोयोग, अनुभय मनोयोग, सत्य वचन योग, असत्य वचन योग, उभय वचन योग, अनुभय वचनयोग) काययोग के सात प्रकार :- औदारिक काय योग, औदारिक मिश्र काययोग, वैक्रियक काययोग, वैक्रियक मिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्र काययोग, कार्माण काययोग) तथा उत्तरोत्तर भेद विस्तार से असंख्यात हैं । जिन्हें करणानुयोग से जानना चाहिए ।

यहाँ विशेष रूप से जिज्ञासु पाठकों के मन में योग और उपयोग की अत्यंत भिन्नता अथवा उनके चेतन-अचेतन होने के संबंध में प्रश्न उठना स्वाभाविक है जिसका समाधान इस प्रकार हैं ।

योग और उपयोग कथंचित् भिन्न हैं एक नहीं, क्योंकि उपयोग संपूर्ण संसारी व सिद्ध जीवों में तथा अयोग केवलियों में पाया जाता है किन्तु योग सभी के नहीं है । उपयोग जीव का स्वभाव है । संसारी जीवों की अपेक्षा यह भिन्नता सर्वथा नहीं है । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है - उपयोग चेतन तथा योग अचेतन है, ऐसा भी सर्वथा नहीं हैं क्योंकि आगम में आत्मप्रदेशों के संकोच (सिकुड़ना) विकोच (फैलना) की

---

२. आ. सा./४

३. त. सू. ६/१,२

४. किं जोगोणाम ? जीवपदेसाणं परिप्फंदो संकोच विकोच ब्ममणसरुवओ ।
- ध., भाग १०/४, २, ४, १७५ पृ. ४३७, पं. ७.

५. मण वयण काय पोग्गलालंबणेण जीव पदेसाणं परिपप्फंदो । ध. पु.७/२,१,१५/१७।१० अथवात्म प्रदेशानां सङ्कोचविकोचो योगः । ध. पु . १-१, १, ४ पृ. १४०, पं. २

योग संज्ञा है[5] यह योग विकारी आत्मा का परिणमन रूप चेतन है तथा इसमें कारण भूत पौद्‌गलिक मन-वचन-काय अचेतन परिणाम है ।

प्रश्न : यदि आत्म प्रदेशों के परिस्पंदन को योग कहते हो तो अयोग केवली जिन संपूर्ण कर्मक्षय कर गुणस्थानातीत स्थिति में जब लोकाग्र की ओर जाते हुए अविग्रह गति को प्राप्त होते हैं तो उनके भी आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन पाया जाना चाहिए ?

उत्तर : जीवों के गमन काल में आत्मप्रदेशों के संकोच, विकोच का नियम नहीं है क्योंकि सिद्ध होने के प्रथम समय में यह जीव यहाँ से लोकाग्र शिखर पर जाकर विराजमान हो जाता है । इस काल में उनके आत्मप्रदेशों में परिस्पंदन का अभाव है योग का अभाव होने से अर्थात् उनके योग नहीं होता ।[6]

प्रश्न : उनमें संकोच-विकोच न सही किन्तु क्रिया तो पायी जाती है अतः योग मानना चाहिए अथवा आत्मप्रदेश परिस्पंदन को योग मानने से शरीरी जीव, अयोगी अवस्था को कभी प्राप्त नहीं हो सकेगा । उसके अक्रिय मानने में विरोध आता है।

उत्तर : यह कोई दोष नहीं है, अष्ट कर्म से मुक्त होने की दशा में जीव की ऊर्ध्वगमन क्रिया तो उसका स्वाभाविक गुण है । यह प्रवृत्ति कर्मोदय के बिना है । विशद रूप से ऐसा कहा जा सकता है कि स्व स्थित प्रदेशों को न छोड़ते हुए या छोड़कर जो जीव द्रव्य का अपने अवयवों द्वारा परिस्पंदन होता है वह अयोग है। यह कर्मक्षय से स्वतः उत्पन्न होता है, अतः सक्रिय होते हुए भी शरीरी जीव अयोगी सिद्ध होते हैं उनके प्रदेशों में उद्धर्तन परिवर्तन रूप क्रिया का अभाव हैं ।[7]

प्रश्न : लेकिन आगम में मन-वचन-काय के कर्म को भी तो योग कहा जाता है ?

उत्तर : हाँ, जहाँ कारण में कार्य का उपचार किया जाता है वहाँ पर पौद्‌गलिक मन-वचन-काय के कर्म को भी योग कहा जाता है, जो उपचार मात्र है वास्तविक नहीं ।[8]

प्रश्न : उपचार किसे कहते हैं ?

---

६. **ध. ७-२, १, ३३, ७७।२**

७. **ध. ७-२, १, १५, १७।१०,**

८. काय वाड्मनः कर्मयोगः । त. सू. ६/१

९. **आ. प. सू. - २१२, २१३**

कारण गत धर्म का कार्य में उपचार जगत में प्रसिद्ध रूप से पाया जाता है ।[१०] किन्तु वह उपचार ही है, परमार्थ नहीं, यहाँ उपचार से मात्र सहकारिता निमित्त है ।

प्रश्न : मन-वचन काय को ही योग कहा है आप उसे सहकारी कैसे कहते हो?

उत्तर : संस्कृत व्याकरण में तृतीया विभक्ति (कारक) का नाम करण है ।[११] जिसका प्रयोग कारण या निमित्त के लिए होता है ।[१२] कारण, आलम्बन, निमित्त, ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं । इन तीनों अर्थों में योग का वर्णन शास्त्रों में वर्णित है। यथा:

कारण अर्थ में योग :

मणसा वाया काएण वा वि जुत्तस्स विरिय परिणामो ।

जीवस्स (जिह) प्पणि ओगो जोगोत्ति जिणेहिं णिदिट्ठो[१३] ॥

उपरोक्त गाथा में मणसा वचसा काएण चा शब्द करण प्रधान होने से करण (ने, से, के द्वारा) अर्थ निकलता है ।

निमित्त अर्थ में योग : ''योगो वाङ्मनसकाय वर्गणा निमित्ते आत्म प्रदेशे परिस्पन्दः ।''[१४] यहाँ निमित्त शब्द स्पष्ट है ।

आलम्बन अर्थ में योग : ''आत्मनो मनो वाक्काय वर्गणालम्बनः प्रदेश परिस्पन्दः उपयोगो योगः''[१५] इस वाक्य में आलम्बन शब्द स्पष्ट है।

अतः यह बात सिद्ध हुई कि मन-वचन-काय के निमित्त कारण या अवलंब से आत्मप्रदेशों के परिस्पंदन को योग कहते है । मन-वचन-काय पौद्गलिक है; इसका स्पष्ट उल्लेख आचार्य श्री वीरसेनाचार्य ने धवला टीका में किया हैं :-

---

१०. इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्त भूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति संपद्यमानत्वात् पौदगलिकं कर्मात्मना कृत मित्ति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपराणां परेषामस्ति विकल्पः । स तूपचार एव न तु परमार्थः । - स.सा., गा. १०५ टी.
कार्य कारणोपचारस्य जगति सुप्रसिद्धस्योपलम्भात् । ध. पु. १,१, ४, पृ. १३६-३७ पं.

११. साधकतमं करणं

१२. दिवः कर्म च । ३८८ । येन क्रियते तत्कारणम् । ३८७
तृतीया सहयोगे । ३८९, हेत्वर्थे । ३९० - का. व्या.

१३. पं. सं. १/88

१४. स. सि. ६/१

१५. रा. वा. ९/७/११, ६०३/३४

मणवयण काय पोग्गलालंवणेण जीव पदेसाणं परिपप्फंदो (जोगो)[१६] इस प्रकार सिद्ध हुआ कि योग कथंचित् चेतन है तो कथंचित् अचेतन पौद्‌गलिक है अतः उपचार करने पर उनकी (मन-वचन-काय) योग यह संज्ञा हो जाती है और उनके मुख्य तीन भेद हो जाते हैं ।[१७] विस्तार से तीनों के १५ भेद होते हैं । (४ + ४ + ७) अनेक भेद होने पर भी एक जीव के एक साथ एक ही योग पाया जाता है ।[१८]

प्रश्न : क्या एक जीव के एक ही समय में योगों की युगपत् प्रवृत्ति होती है या नहीं?

उत्तर : नहीं, युगपत् प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि एक आत्मा में तीनों योगों की युगपत् प्रवृत्ति मानने से योगनिरोध का प्रसंग उपस्थित होता है अर्थात् किसी भी आत्मा में योग की सिद्धि नहीं हो सकेगी ।

प्रश्न : किन्हीं को मन-वचन-काय की युगपत् प्रवृत्तियाँ भी देखी जाती है ?

उत्तर : यदि देखी जाती है तो उनकी युगपत् प्रवृत्ति भले होवे परंतु युगपत् प्रवृत्ति के लिए जिस प्रयत्न की धारणा है उसकी सिद्धि नहीं हो सकती । आगम में ऐसा उपदेश भी उपलब्ध नहीं है । अर्थात् युगपत् प्रवृत्ति की संभावना के बावजूद युगपत् प्रयत्न नहीं होता है ।

प्रश्न : प्रयत्न, बुद्धिपूर्वक होता है और बुद्धि, मनोयोग पूर्वक होती है, ऐसी परिस्थिति में मनोयोग शेष योगों का अविनाभावी है यह बात सिद्ध हो जानी चाहिए ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि कार्य और कारण इन दोनों की एक ही काल में उत्पत्ति संभव नहीं है ।[१९] अतः मनोयोग पूर्वक शेष योग होते हैं, ऐसा कथन युक्ति संगत नहीं है । इससे असंज्ञी पंचेन्द्रिय (असैनी) तक के जीवों में योग अभाव का प्रसंग आ जाएगा क्योंकि इन जीवों के मनोयोग का अभाव है ।

प्रश्न : योग किन-किन गुणस्थानवर्ती जीवों में पाये जाते हैं ।

उत्तर : प्रथम गुणस्थान से लेकर संयोग केवली तेरहवें गुणस्थान तक सभी संसारी जीवों के योग पाया जाता है । अयोग केवली एवं सभी सिद्ध जीवों में योग का अभाव है,[२०] किन्तु उपयोग अवश्य पाया जाता है । अतः योग और उपयोग दोनों अत्यंत भिन्न-

---

१६. ध. पु. ७/२, १. १५/१७/१०

१७. ष.खं. १/१, १/सू. ४७, ४८ पृ. २७८, २८०

१८. गो. जी. मू. २४२/५०५

१९. कार्य कारणयोरेक काले समुत्पत्ति विरोधात् । ध. पु. १.१, १,४७, पृष्ठ २८९, पंक्ति ३

२०. पं. सं./प्रा/५/३२८

भिन्नहैं, एक नहीं । यहाँ एक बात और स्पष्ट करना आवश्यक है कि उपयोग सभी संसारी और मुक्त जीवों में पाया जाता है । क्योंकि वह जीव का लक्षण है ।

उपयोगो लक्षणम् ।

उपयोग जीव का लक्षण है,[२१] अतः यह आवश्यक है तत्संबंधी विशद विवेचन प्रस्तुत किया जाय जिससे पाठकों को संपूर्ण विषय बोधगम्य हो सके ।

उपयोग शब्द का प्रयोग शास्त्रों में मुख्यतया आगम में जीव के लक्षण अर्थ में तथा अध्यात्म में जीव की शुभ-अशुभ-शुद्ध परिणति अर्थ में पाया जाता है । आगम ग्रंथों में आचार्य श्री उमास्वामी ने "**उपयोगो लक्षणम्**" सूत्र में जीव लक्षण की विवेचना में उपयोग शब्द का प्रयोग किया है तथा आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में कथन करते हुए "चैतन्य के अनुविधायी परिणाम को उपयोग कहा हैं" - "**उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः।**"[२२] आचार्य श्री अकलंक देव ने तत्वार्थराजवार्तिक में पदार्थ की परिच्छित्ति रूप परिणाम कि यह घट है, यह पट है, अर्थ ग्रहण रूप व्यापार को उपयोग कह कर परिभाषित किया हैं।[२३] यह कथन ज्ञान की प्रमुखता से है जो चेतना रूप जीव लक्षण का बोधक है।

आगमिक उपयोग के भेद/प्रभेद : आगम में (१) ज्ञानोपयोग (२) दर्शनोपयोग के रूप से उपयोग के दो भेदों का उल्लेख हैं[२४] जो (सविकल्प) साकार और निराकार (निर्विकल्प) हैं । जगत् के समस्त जीवों में ये दोनों उपयोग पाये जाते हैं। छद्मस्थ को दर्शन पूर्वक ज्ञानोपयोग होता है तथा केवलियों में दोनों उपयोग युगपत् पाये जाते हैं ।[२५]

उपयोग के अवान्तर भेद १२ हैं जो इस प्रकार हैं :- दर्शनोपयोग के चार भेद हैं (१) चक्षुदर्शन (२) अचक्षुदर्शन (३) अवधिदर्शन (४) केवलदर्शन[२६]

ज्ञानोपयोग के आठ भेद : (१:)मतिज्ञानोपयोग (२) श्रुतज्ञानोपयोग (३) अवधिज्ञानोपयोग (४) मनःपर्ययज्ञानोपयोग (५) केवलज्ञानोपयोग (६) कुमति या मत्याज्ञानोपयोग (७) कुश्रुत या श्रुताज्ञानोपयोग (८) कुअवधि या विभंगावधि ज्ञानोपयो।[२७] इस प्रकार चार दर्शनोपयोग, आठ ज्ञानोपयोग कुल बारह प्रकार का उपयोग होता हैं।

---

२१. त.सू. २/८
२२. स. सि. २/८
२३. रा. वा. २/८
२४. द्र. सं. गा. ४
२५. द्र. सं. गा. ४४
२६. द्र. सं. गा. ४
२७. द्र. सं. गा. ५

प्रश्न : क्या उपयोग के ये सभी भेद किसी जीव में पाये जाते हैं ?

उत्तर : नहीं, सभी उपयोग एक साथ किसी भी जीव में नहीं पाये जाते । नाना जीवों की अपेक्षा पर्यायगत योग्यता के आधार से उपयोग घटित होते हैं, इसका विस्तृत कथन इस प्रकार है ....

संसारी जीवों में उपयोग

स्वामी	उपयोग संख्या	चक्षु	अचक्षु	अवधि	केवल	मति ज्ञान	श्रुत ज्ञान	अवधि	मनः पर्यय	केवलज्ञानपयोग	कुमति	कुश्रुत	कुअवधि
१. एकेन्द्रिय	३	–	”	–	–	–	–	–	–	–	”	”	–
द्वि. तीन इन्द्रिय													
२. चतुरिन्द्रिय	४	”	”	–	–	–	–	–	–	–	”	”	–
३. असंज्ञी पंचेन्द्रिय	४	”	”	–	–	–	–	–	–	–	”	”	–
४. संज्ञी पंचेन्द्रिय	४	”	”	–	–	–	–	–	–	–	”	”	–
(अ) --गुण. १-३	५	”	”	–	–	–	–	–	–	–	”	”	”
(ब) ----------	6	”	”	”	–	–	–	–	–	–	”	”	–
५. (अ) --गुण. ४	४	”	”	–	–	”	”	–	–	–	–	–	–
(ब) ----------	६	”	”	”	–	”	”	”	–	–	–	–	–
६. (अ) -------- ५	४	”	”	–	–	”	”	–	–	–	–	–	–
(ब) ---------	६	”	”	”	–	”	”	”	–	–	–	–	–
७. (अ) -------- ६	४	”	”	–	–	”	”	–	–	–	–	–	–
(ब) ---------	५	”	”	–	–	”	”	–	”	–	–	–	–
(स) ----------	६	”	”	”	–	”	”	”	–	–	–	–	–
(द) ----------	७	”	”	”	–	”	”	”	”	–	–	–	–
८. सयोग-अयोग केवली	२	–	–	–	”	–	–	–	–	”	–	–	–

विशेष : ७-१२ गुणस्थान तक उपरोक्त चारों विकल्प यथाक्रम से जानना चाहिए, यहाँ संक्षेप में लक्षणात्मक उपयोग को बताया है, विस्तृत ज्ञान सिद्धांत ग्रंथों से करे।

यहाँ उपयोग की विवेचना में मुख्य अभिप्राय उपादेय तत्त्व को जानना है । निश्चयदृष्टि से आदि अंत रहित परम चैतन्य आत्मा में अनाकुलत्व लक्षण वाला अनंत सुख है (कारणरूप से केवल ज्ञान दर्शन) वही उपादेय एवं श्रद्धेय है । इसी की

प्राप्ति के लिए साधना मार्ग पर अग्रसर सभी भव्य प्राणियों को सतत् प्रयास करना चाहिए ।[२८]

आध्यात्मिक उपयोग :

आध्यात्मिक ग्रन्थों में उपयोग की विवेचना शैली में जीव की परिणति एवं अनुष्ठान शब्दों का प्रयोग मिलता है । पारिभाषिक दृष्टि से जीव का जो भाव वस्तु ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है उसकी उपयोग संज्ञा है । ज्ञान दर्शन रूप (जीव के लक्षणात्मक) उपयोग [२९] की विवक्षा पदार्थ के जानने रूप, वस्तु के ग्रहण रूप व्यापार को लिया जाता है तथा शुभ, अशुभ और शुद्ध इन तीन उपयोगों की विवक्षा में अनुष्ठान/परिणति जानना चाहिए ।[३०] अनुष्ठान शब्द अंतरंग चारित्र का वाचक है।[३१] आचार्य ब्रह्मदेव सूरी ने वृहद् द्रव्य संग्रह में निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, अनुष्ठान (चारित्र) शब्द का प्रयोग किया है । इससे स्पष्ट है कि अनुष्ठान शब्द आभ्यंतर आचरण के रूप में ग्राह्य है । आभ्यंतर आचरण, परिणाम, परिणति, भाव, सभी शब्द एकार्थवाची है ।[३२]

उपयोग के भेद एवं स्वरूप :

अनुष्ठानात्मक उपयोग तीन प्रकार का हैं - १. अशुभोपयोग २. शुभोपयोग ३. शुद्धोपयोग ।[३३]

शुभाशुभ और शुद्धोपयोग को समझने के पूर्व भाषा और नयों को जानना अनिवार्य है । अतः प्रथम हम इसे ही समझने का प्रयत्न करेंगे ।

आगम एवं अध्यात्म भाषा :

वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन में भाषा का विशेष महत्व होता है । आगम और अध्यात्म ग्रंथों में एक ही विषय वस्तु के संदर्भ में पृथक्-२ शब्दों का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया गया है जो मात्र शैली का ही अंतर नहीं, किन्तु अर्थबोध में भी अंतर रखता है । ऐसा होने पर ही आगम और अध्यात्म को समझने में सुगमता हो सकी । अन्यथा उपयोग को समझना असंभव जैसा हो जाता । यद्यपि आगम और अध्यात्म

---

२८. निश्चयनयेनादि मध्यांतवर्जिते परमानंदमालिनी परमचैतन्यशालिनी भगवत्यात्मनि यदनाकु लत्वलक्षणं पारिमार्थिकसुखं तस्योपादेयभूतस्योपादानकारणभूतं यत्केवलज्ञानदर्शनद्वयंतदेवोपादेयमितिश्रद्धेयं ज्ञेयं तथैवार्तरौद्रादिसमस्तविकल्प-जालत्यागेन ध्येयमिति भावार्थः। - पं. का. गा. ५२, ता. वृ. टी.

२९. त.सू. २/८ ३०. वृ.द्र.सं.गा.टी. ६ ३१. वृ.द्र.सं. २/३५

३२. रा.वा. १/१ ३३. भा.पा.पाठान्तर गा. ७५

दोनों ही जिनवाणी के दो अंग हैं और दोनों ही अपना स्वतंत्र अर्थ भी रखते हैं । परन्तु परस्पर विरोधी नहीं हैं । हाँ, अहमिन्द्र तुल्य अवश्य हैं । यही कारण है कि पूज्य जयसेन आचार्य, ब्रह्मदेव सूरि, पद्मप्रभ मलधारीदेव आदि आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में आगम और अध्यात्म को पृथक्-२ रूप में उल्लेख किया हैं । यथा -आचार्य जयसेनाचार्य कृत पंचास्तिकाय का उल्लेख दृष्टव्य है ।...

यः कोऽपि शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा आगमभाषया मोक्षं वा व्रत तपश्चरणादिकं करोति[३४] ब्रह्मदेव सूरि वृहद् द्रव्य संग्रह टीका में लिखते हैं -

"अध्यात्म भाषया पुनः सहज शुद्ध परम चैतन्य शालिनी तावदागम भाषया विचित्र भेदाः कथ्यन्ते" ।[३५]

पद्मप्रभमलधारीदेव कृत परमात्म प्रकाश में आगम व अध्यात्म दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व बताया गया हैं :-

ध्यान शब्देन आगमापेक्षया वीतराग निर्विकल्प शुक्ल ध्यानं अध्यात्मापेक्षया वीतराग निर्विकल्प ।[३६] आदि वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि अध्यात्म को समझने के लिए दोनों भाषाओं को समझना भी आवश्यक है ।

आगम और आगम भाषा :

आगम, सिद्धान्त, प्रवचन आदि शब्द एकार्थवाचक हैं ।[३७] फिर भी प्रत्येक का महत्व बोध परिस्थिति वातावरण के अनुरूप होता हैं । आगम शब्द जैन श्रमण परंपरा के साक्षात् भगवान् सर्वज्ञ देव की वाणी से, सूत्र स्पर्शी श्रद्धा से जुड़ा हुआ वर्तमान में साक्षात् ज्ञाननेत्र है जिसमें वीतराग देव द्वारा उपदिष्ट षड् द्रव्य, सप्त तत्व, षट्लेश्या आदि का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व व्रतादिक के अनुष्ठान (चारित्र) रूप भेद (व्यवहार) रत्नत्रय का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, इसे ही जिनमार्ग में आगम शास्त्र कहते हैं[३८] तथा ऐसे आगम की भाषा को (शैली) आगम भाषा कहते हैं।अर्थात् जो रत्नत्रय

---

३४. पं.का./ता.वृ./परि. पृ. २५५/१०

३५. वृ. द्र. सं. टी. ३/४८ पृ. १५८, १६१

३६. प.प्र./ता.वृ. १/१

३७. आगमो सिद्धांतो पवयणमिदिएयट्ठो । ध. पु. १/१, १/, १/२१/५

३८. वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत षड् द्रव्यादि सम्यक् श्रद्धानज्ञान व्रताद्यनुष्ठान भेदरत्नत्रय स्वरूपं यत्र प्रतिपाद्यते तदागम शास्त्रं भण्यते ।

-पं. का. गा. १७३, पृ. २५५, ता. वृ. पं. ७

का भेदपूर्वक कथन करती है वह भाषा शैली आगम भाषा है; अथवा अभेद का भेदपूर्वक कथन या भेद का अभेदपूर्वक कथन करना आगम भाषा है।

यथा : आत्मा में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र अपने - अपने स्वतंत्र स्वरूप वाले हैं, औदयिक आदि जीव के भाव हैं, कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से क्रमशः उपशम, क्षायिक, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन आदि होते हैं ।

अध्यात्म और अध्यात्म भाषा :

सर्व विशुद्धता अथवा अखंड, अभेद का लक्ष्य लेकर अध्यात्म में विषय का प्रतिपादन किया जाता है । वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा उपदिष्ट सिद्धांत को शास्त्रों में जिसमें अभेद रत्नत्रय के अनुसार (निश्चय) अर्थ और पदों का अनुकूल व्याख्यान किया जाता है उसे अध्यात्मशास्त्र कहते हैं[३९] तथा ऐसे ग्रन्थों की भाषा शैली अध्यात्म भाषा है जैसे - एक अखण्ड, नित्य आत्मा है ये पृथक् - पृथक् नहीं है अपितु एक ही है । इस पद्धति को अपनाये बिना आगम और अध्यात्म को समझाया नहीं जा सकता और न विषय को पूर्णतया स्पष्ट किया जा सकता है । अस्पष्टता का अर्थ है अनेक मतभेद - भ्रान्तियों का प्रकटीकरण । उन आचार्यों का हम सभी पर महान उपकार हैं जिन्होंने दो भाषा शैली अपना कर प्रतिपाद्य विषय वस्तु को सहज सुबोध बनाकर अध्यात्म और आगम की जटिल गूढ़ गहराई में उतरने की क्षमता प्रदान की । वर्तमान में जो जिज्ञासु भटक रहे हैं वे आचार्यों द्वारा प्रयुक्त इन उभय शैली भेद के मर्म को ठीक से ग्रहण न करने के कारण ही दिग्मूढ़ होकर चकित हैं, भ्रमित हैं ।

इस बात में रंच मात्र भी संदेह नहीं है कि दोनों ही (अध्यात्म - आगम) शास्त्रों की चर्चा, भाषा शैली जैन दर्शन की अनुकूलता-विशदता को स्पष्ट करती हैं फिर भी वे एक नहीं हैं, पद्धतियाँ प्रतिपाद्यता की स्वतंत्रता के साथ अपना-अपना स्वतंत्र स्थान बनाये हुये हैं । इनमें स्याद्वाद अथवा नयविवक्षा की अपेक्षा से अपना अपना पक्ष सत्य हैं । यदि सापेक्ष - स्याद्वाद की उपेक्षा कर एक विषय वस्तु को दूसरे प्रतिपाद्य विषय से संयुक्त करने का प्रयास किया जाये तो निश्चित ही वह असत्य की कोटि में आ जावेंगे - क्योंकि वे अपनी मर्यादा में रहकर विषयवस्तु की सत्य प्ररूपणा करती हैं । अतः आगम और अध्यात्म शैली की इस मौलिक विशेषता अन्तर को जानकर ही वस्तु तत्त्व के कथन का मर्म समझा जा सकता है, यही विशेषता और अन्तर हैं ।

---

३९. पं. का. ता.वृ. गा. १७३ पृ. २५५/१० परिशिष्ट

भाषा और नय में अन्तर :

वस्तु को जानने की दृष्टि/अपेक्षा विशेष के कथन को नय कहते हैं[४०] तथा ज्ञात विषय की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है, दोनों में मौलिक अंतर है । भाषा भाव की संवाहक है उसकी मर्यादा को ध्यान में रखकर ही नयों को समझा जा सकता है तथा नयों को जानकर भाषा से अभिव्यक्त आशय की गहराई का स्पर्श संभव है ।

आचार्य देवसेन ने आलाप पद्धति में नयों की विवेचना में आध्यात्मिक नयों का पृथक् से कथन किया हैं जिससे आगमिक और आध्यात्मिक दो प्रकार के नयों की जानकारी होती है तथा दोनों के स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय भी एक नहीं हैं लेकिन जैन परंपरा की सीमा में वे विरोधी नहीं हैं जो अंतर है, उसे यहाँ स्पष्ट किया जा रहा हे ।

आगमिक और आध्यात्मिक नयों में अंतर :

आगमिक और आध्यात्मिक नयों में अंतर प्रतिपाद्य विषय की अपेक्षा के बजाय उनके वर्गीकरण के कारण है ।

आगम में द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक की मुख्यता से वर्णन है तथा अध्यात्म में निश्चय एवं व्यवहार का उल्लेख है किन्तु निश्चय सिर्फ अध्यात्म में है । आचार्य वीरसेन स्वामी ने नयों के संदर्भ में नैगम, संग्रह, व्यवहार नय को द्रव्यार्थिक नयों में शामिल किया है[४१] तथा आध्यात्मिक ग्रन्थों में भी व्यवहार नय का वर्णन है । आगम ग्रन्थों में जहाँ भी निश्चय नय का उल्लेख है वह भाग अध्यात्म का भाषा रूप ही है । इसी प्रकार आगम ग्रन्थों में द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक की मुख्यता है तथा जहाँ कहीं अध्यात्म ग्रन्थों में इनका उल्लेख है वह आगमिक भाषा रूप है । संक्षेप में एक चार्ट के माध्यम से नयों के वर्गीकरण की जानकारी यहाँ प्रस्तुत है ।

---

४०. ज्ञातुरभिप्रायो नयः ।

-ध. पु. ९, ४, १, ४५, पृ. १६२ पं. ७

४१. द्रव्यार्थिक नयः स त्रिविधो नैगमसंग्रहव्यवहार भेदेन ।

-ध. पु. ९/४, १, ४५

नय[42]

- आगमिक नय
  - द्रव्यार्थिक
    - (१) कर्मोपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय
    - (२) उत्पाद व्यय गौण सत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय
    - (३) कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय
    - (४) उत्पाद व्यय सापेक्ष सत्ता ग्राहक अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय
    - (५) भेद कल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय
    - (६) भेद कल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय
    - (७) अन्वय सापेक्ष द्रव्यार्थिक नय
    - (८) स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय
    - (९) पर द्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक नय
    - (१०) परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय
  - पर्यायार्थिक नय
    - (१) अनादिनित्य पर्यायार्थिक नय
    - (२) सादि नित्य पर्यायार्थिक नय
    - (३) सत्ता गौण उत्पाद व्यय ग्राहक स्वभाव अनादि अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय
    - (४) सत्ता सापेक्ष स्वभाव नित्याशुद्ध पर्यायार्थिक नय
    - (५) कर्मोपाधि निरपेक्ष स्वभाव नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय
    - (६) कर्मोपाधि सापेक्ष स्वभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय
- आध्यात्मिक नय
  - निश्चय
    - शुद्ध
    - अशुद्ध
  - व्यवहार
    - सद्भूत
      - शुद्ध
      - अशुद्ध
        - उपचरित
        - अनुपचरित
    - असद्भूत
      - उपचरित
      - अनुपचरित

नय लक्षण भेद का विहंगावलोकन :

नय के भेद-प्रभेद ज्ञात होने के पश्चात् मन में उसके स्वरूप जानने की प्रबल इच्छा होना स्वाभाविक है । नय के ज्ञान क्षेत्र और मर्यादा के अभिप्राय से उसे निम्न रूप से समझना चाहिए ।

---

४२. जै. सि. को. भाग २, पृ. ५१४, चार्ट नं. २

(१) प्रमाण के अवयव को नय कहते हैं ।[४३]

(२) प्रमाण के द्वारा सम्यक् प्रकार से ग्रहण की गई वस्तु के एक धर्म (अंश) अपेक्षा दृष्टि को ग्रहण करने वाले को नय कहते हैं ।[४४]

(३) श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं ।[४५]

(४) ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं ।[४६]

सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं ।

(५) जो नाना स्वभावों से हटाकर किसी एक स्वभाव में वस्तु को प्राप्त कराता है वह नय है ।[४७]

(६) उच्चारण किये अर्थ, पद और उसमें किये गये निक्षेप को देखकर अर्थात् समझकर पदार्थ को ठीक निर्णय तक पहुँचा देता है, इसलिए वे नय कहलाते हैं ।[४८]

(७) अनेकान्तात्मक वस्तु में अविरोधपूर्वक हेतु की मुख्यता से साध्य विशेष की यथार्थता को प्राप्त कराने में समर्थ प्रयोग को नय कहते हैं ।[४९]

नय की उपरोक्त विविध परिभाषाओं के संदर्भ में आचार्यों ने इसके आगमिक और आध्यात्मिक दो मुख्य भेद किये हैं ।

आगमिक नय विषयक विवरण :

आगमिक भाषा प्रकरण में इसका खुलासा किया जा चुका है । यहाँ इतना विशेष है कि इसके दो भेद हैं (१) द्रव्यार्थिक (२) पर्यायार्थिक[५०]

द्रव्यार्थिक नय :

द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है वह द्रव्यार्थिक नय है ।[५१]

---

४३. तदवयवा नयाः । - **आ. प. सू. ३९**
तावद्वस्तुन्यनेकान्तात्मन्य विरोधेन हेत्वर्पणात्साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापण प्रवणः प्रयोगो नयः । - **स.सि. टी. पृ. १००, सू. १/३३**

४४. प्रमाणप्रकाशितार्थ विशेष प्ररूपको नयः । - **रा. वा. १/३३/१/९४/२१**

४५. श्रुत विकल्पो वा नयः । **आ. प. १८१**

४६. **ध. पु.** । **१, १, १ ।११ ।९७**
ज्ञानं प्रमाण मित्याहुरुपायो न्यास उच्यते ।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तियोऽर्थ परिग्रहः **११**

४७. नानास्वभावेभ्यो व्यवर्त्य एकस्मिन्स्वभावे वस्तु नयति प्रापयतीति वा नयः। - **आ.प.१८१**

४८. उच्चारियमत्थपदं णिक्खेवं वा कयं तु दट्ठूण ।अत्थं णयंति पच्चंतमिदि तदो ते णया भणिया ।३।
णयदि त्ति णयो भणिओ बहूहि गुण - पज्जएहि जं दव्वं।
परिणाम खेत्त कालं तरेसु अविणट्ठ सब्भावं **४ ध. पु. १/१, १, १/३, ४/१०**

४९. **स. सि. १/३३/१००/७**

५०. **स. सि. १/३३/१००/८**

५१. द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः । - **स.सि. १/६/१५/**

द्रव्य का अर्थ सामान्य उत्सर्ग और अनुवृत्ति है । इसे विषय करने वाला नय द्रव्यार्थिक है[५२] अर्थात् जो उन-उन पर्यायों को प्राप्त होता है, प्राप्त होगा, अथवा प्राप्त हुआ था, वह द्रव्य है, इस नय के प्रमुख दस भेद हैं :-

१. कर्मोपाधि निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय - जैसे संसारी जीव सिद्ध समान शुद्धात्मा है ।[५३]

२. उत्पाद व्यय को गौण करके सत्ता (ध्रौव्य) को ग्रहण करने वाला शुद्ध द्रव्यार्थिक नय जैसे द्रव्य नित्य है ।[५४]

३. कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय - जैसे कर्मजनित क्रोधादिभाव रूप आत्मा है ।[५५]

४. उत्पाद व्यय सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय - जैसे एक ही समय में उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक द्रव्य है ।[५६]

५. भेद कल्पना सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय - जैसे आत्मा के ज्ञान दर्शनादि गुण हैं[५७] वे द्रव्य से अभिन्न हैं। अथवा गुण-गुणी में भेद होने पर भी जो नय द्रव्य में गुण-गुणी का संबंध करता है वह भेद कल्पना सहित अशुद्ध नय जानना चाहिए ।

६. भेद कल्पना निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिक नय - जैसे निज गुण से निज पर्याय से निज स्वभाव से द्रव्य अभिन्न है ।[५८]

७. अन्वय सापेक्ष द्रव्यार्थिक नय - जैसे संपूर्ण गुण, पर्याय और स्वभाव में द्रव्य को अन्वय रूप से ग्रहण करना ।[५९]

---

५२. द्रव्यं सामान्यमुत्सर्गः अनुवृत्तिरित्यर्थः। तद्विषयो द्रव्यार्थिक :। स. सि. १/३३/१००/९

५३. कर्मोपाधि निरपेक्षः शुद्ध द्रव्यार्थिकः यथा संसारी जीवः सिद्ध सदृक शुद्धात्मा।
-आ. प. सू. ४७

५४. उत्पाद व्यय गौणत्वेन सत्ताग्राहकः शुद्ध द्रव्यार्थिको यथा द्रव्यं नित्यम्।आ. प. सू. ४८

५५. कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्ध द्रव्यार्थिको यथा क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा ।-आ. प. सू. ५०

५६. उत्पाद व्यय सापेक्षोऽशुद्ध द्रव्यार्थिको यथैकस्मिन् समये द्रव्य मुत्पादव्यय ध्रौव्यात्कम्।
-आ. प. सू. ५१

५७. भेदकल्पना सापेक्षोऽशुद्ध द्रव्यार्थिको यथात्मनो दर्शन ज्ञानादयो गुणाः ।-आ. प. सू. ५२

५८. भेद कल्पना निरपेक्षः शुद्धो द्रव्यार्थिको यथा निज गुण पर्याय स्वभावाद् द्रव्यमभिन्नम्।
- आ. प. सू. ४९

५९. अन्वय सापेक्षो द्रव्यार्थिको यथा गुण पर्याय स्वभावं द्रव्यम् ।- आ. प. सू. ५३
गुण पज्जयदो दव्वं दव्वा दोण गुण पज्जया भिण्णा ।
जम्हा तम्हा भणियं दव्वं गुण पज्जय मणण्णं ॥ - प्रा. न. च. गा. ४१

अथवा जो नय संपूर्ण स्वभावों को यह द्रव्य है, यह द्रव्य है, ऐसे अन्वय रूप से द्रव्य की स्थापना करता है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है ।

जो संपूर्ण गुणों पर्यायों में से प्रत्येक को द्रव्य बतलाता है वह अन्वय द्रव्यार्थिक नय है । जैसे :- स्वर्ण कड़ा में - पीतल आदि गुणों में अन्वय रूप से रहने वाला स्वर्ण।

अथवा देव नारकादि पर्यायों में यह जीव है ऐसा अन्वय द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

८. स्वद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिक नय : जैसे स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य को अस्तिरूप से ग्रहण करनेवाला नय ।[६०]

९. पर द्रव्य ग्राहक द्रव्यार्थिक नय :- जैसे - परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और पर स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य नास्ति रूप है ।[६१]

१०. परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय :- जैसे ज्ञान स्वरूप आत्मा है क्योंकि इसमें जीव के अनेक स्वभावों में से ज्ञान नामक परमभाव का ही ग्रहण किया गया है ।[६२] अथवा आत्मा कर्म से उत्पन्न नहीं होता और न ही कर्मक्षय से उत्पन्न होता है । जैसे :- द्रव्य के ऐसे भाव को बतलाने वाला परम भाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय है ।[६३] यह नय शुद्ध-अशुद्ध के उपचार से रहित द्रव्य के स्वभाव को ग्रहण करता है अत: इसे परमभाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय कहा है।[६४] अन्य ग्रंथों में द्रव्यार्थिक नय के नैगम, संग्रह और व्यवहार ऐसे तीन भेद भी बताये गये हैं । व्यवहार नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है ।[६५] उपरोक्त कथन संक्षेप में यहाँ दिया गया है । विशेष जिज्ञासु पाठकों को आगम ग्रन्थों से जानना चाहिए ।

---

६०. स्व द्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिको यथा स्वद्रव्यादि चतुष्टयापेक्षा द्रव्यमस्ति।-आ. प. सू. ५४

६१. परद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिको यथा पर द्रव्यादि चतुष्टयापेक्षया द्रव्यं नास्ति। - आ. प. सू. ५५

६२. परमभावग्राहक द्रव्यार्थिको यथा ज्ञान स्वरूप आत्मा, अत्रानेक स्वभावानां मध्ये, ज्ञानाख्यः परमस्वभावो गृहीतः । आ. प. सू. ५६

६३. यः खलु जीवस्वभावो नो जनितो नो क्षयेण संभूतः ।
कर्मणां स जीवो भणितः रह परमभावेन । वृ. न. च. ११६

६४ गृहणाति द्रव्यस्वभावं अशुद्धशुद्धोपचारपरित्यक्तम् ।
सपरमभाव ग्राही ज्ञातव्यं सिद्ध कामेन परिहीनं । वृ. न. च. ११९
गेण्हइ दव्व सहावं असुद्ध सुद्धोवयार परिचित्तं ।
सो परम भावगाही णायव्वो सिद्धि कामेण ॥ -वृ. न. च. १९७

६५ गो. जी. गा. २७२/१०७६

पर्यायार्थिक नय :

पर्याय ही जिस नय का प्रयोजन है, वह पर्यायार्थिक नय है ।[६६] अर्थात् प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण परिवर्तनरूप को जो प्राप्त है वह पर्याय और इसे ग्रहण करना जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है । तीर्थंकरों के वचनों के सामान्य प्रस्तार का मूल व्याख्याता द्रव्यार्थिक नय है तथा उन्हीं वचनों के विशेष प्रस्तार का मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है, शेष सभी नय इन दोनों नयों के विकल्प भेद हैं ।[६७] आचार्य श्री देवसेन ने पर्यायार्थिक नय के मुख्य छह भेदों का उल्लेख किया है[६८] जिसका विवरण पूर्व में (नक्शा) स्पष्ट रूप से दिया जा चुका है । यहाँ संक्षेप में उनके लक्षणात्मक अभिव्यक्ति को बताया जा रहा है ।

१. **अनादि नित्य पर्यायार्थिक नय :-** जैसे सुमेरू आदि पुद्‌गल की पर्याय नित्य है ।[६९] इस नय को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री वीरसेनजी धवला जी में कहते हैं - अभव्य जीव की व्यंजन पर्याय भले ही हो किन्तु उन सभी का नाश हो, ऐसा कोई नियम नहीं है, अन्यथा एकान्तवाद का प्रसंग आ जाएगा । इस प्रकार द्रव्य के संदर्भ में भी यही बात घटित होती है कि वह सर्वथा विनष्ट नहीं होता,[७०] वह द्रव्य होना चाहिए क्योंकि द्रव्य को उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक स्वीकार किया है ।[७१]

२. **सादि नित्य पर्यायार्थिक नय :** जैसे सिद्ध पर्याय नित्य है ।[७२] क्षायिक भाव की अपेक्षा जीव भी सादिअनिधन है ।[७३] शुद्ध नय की विवक्षा न करके सम्पूर्ण कर्मों के निरवशेष तथा क्षय के द्वारा उत्पन्न हुई चरम शरीर के आकार वाली परिणतिरूप शुद्ध सिद्ध पर्याय को जो नय ग्रहण करता है वह सादि नित्य पर्यायार्थिक नय है।[७४] कर्मों के क्षय से उत्पन्न होनेवाले भाव अविनाभावी है।

---

६६. पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ पर्यायार्थिकः । - **स. सि. १/६/२१/१**

६७. **ध. पु. १/१, १, १/गा. ५/१२**

६८. अथ पर्यायार्थिकस्य षड्भेदाः । - **आ. प. सू. ५७**

६९. अनादि नित्य पर्यायार्थिको यथा पुद्‌गल पर्यायो नित्यो मेर्वादिः ।- **आ.प.सू. ५८**

७०. इत्येवमाद्यनेकाश्चर्यरूपेण परिणतपुद्‌गलपर्यायद्यनेकद्रव्यपर्यायैः सहपरिणतलोक महास्कन्धपर्यायाः त्रिकाल स्थिताः सन्तोऽनादि निधना इति .... ।-**न. च. श्रु. पृ. ६**

७१. **ध.पु. ७, पृ. १७८**

७२. सादि नित्य पर्यायार्थिको यथा सिद्ध पर्यायो नित्याः । -**आ.प.सू. ५९**

७३. जीवहिसहजचैतन्यलक्षणपारिणामिक भावेनाऽनादिनिधनाः त एवौदयिक क्षायोपशमिकौपश- मिक भावैः सादिसनिधनाः । त एव क्षायिक भावेन साद्यनिधनाः: -**पं. का. गा. ५३, त. वृ., पृ. १०२ पं. २-३**

७४. **न. च. श्रु. पृ. ६**

कर्मोदय रूप बन्धक कारण का यहाँ अभाव है । अतः जो नय इन क्षायिक भावों को विषय करता है वह सादि नित्य पर्यायार्थिक नय है ।[७५]

३. सत्तागौणत्व उत्पाद व्यय ग्राहक अनादि अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नयः- ध्रौव्य को गौण करके उत्पाद व्यय की मुख्यता से ग्रहण करने वाला नय अनित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है । यथा - पर्याय प्रतिसमय विनाश होती है ।[७६]

४. सत्ता सापेक्ष स्वभाव नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय :- ध्रौव्य की अपेक्षा सहित वस्तु विषय को ग्रहण करने वाला नय नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है ।

जैसे - एक समय में पर्याय उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है ।[७७] इस नय का विषय ध्रौव्य भी होने से जो कि इसका विषय नहीं है, इसे नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय कहा गया है ।[७८]

५. कर्मोपाधि निरपेक्ष स्वभाव नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नयः- कर्मोपाधि निरपेक्ष स्वभाव को ग्रहण करने वाला नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है । जैसे संसारी जीवों की पर्याय (अरहंत पर्याय) सिद्ध समान शुद्ध है ।[७९] संसारी जीवों की पर्याय को जो सिद्ध समान शुद्ध मानता है वह नित्य शुद्ध पर्यायार्थिक नय है[८०] चराचर पर्याय परिणत संसारी जीवधारियों के समूह में शुद्ध सिद्ध पर्याय की विवक्षा से कर्मोपाधि से निरपेक्ष स्वभाव शुद्ध पर्यायार्थिक नय है यहाँ पर संसार रूप विभाव अवस्था में भी यह नय शक्ति रूप से नित्य शुद्ध पर्याय को जानने की विवक्षा रखता है ।

---

७५. कम्मखया दुप्पणो अविणासी जो हु कारणाबावे ।
इदमेव मुच्चरंतो भणण इ सो साइणिच्च णओ॥ - प्रा. न. च. (माइल्ल) गा. २००

७६. सत्तागौणत्वेनोत्पाद व्यय ग्राहक स्वभावोऽनित्य शुद्ध पर्यायार्थिको यथा समयं समयं प्रति पर्याया विनाशिनः - आ. प. सू. ६०

७७. सत्ता सापेक्षस्वभावोनित्याशुद्ध पर्यायार्थिको यथा एकस्मिन् समये त्रयात्मकः पर्यायः। आ.प.सू. ६१

७८. अशुद्धा नित्य पर्यायान् कर्मणान् विवृणोति यः।
विभावा नित्य पर्याय ग्राहकोऽशुद्ध संज्ञकः ॥ न. च. श्रुत., श्लो.१७, पृ. ४८

७९. कर्मोपाधि निरपेक्ष स्वभावोनित्य शुद्ध पर्यायार्थिको यथा सिद्ध पर्यायसदृशाः शुद्धाः संसारिणां पर्यायाः । -आ.प.सू. ६२

८०. पर्यायानंगिनां शुद्धात् सिद्धानाभिव यो वदेत् ।
स्वभावं नित्य शुद्धोऽसौ पर्याय ग्राहको नयः ॥ न. च. श्रुत., श्लो. १६, पृ. ४८

६. कर्मोपाधि सापेक्ष स्वभाव अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय :- जैसे संसारी जीवों का जन्म मरण होता है ।[८१] शुद्ध पर्याय की विवक्षा न कर नरकादि जनित विभाव पर्यायों को जीव स्वरूप बतलाने वाला, नय अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है । यह नय संसारी जीव की गति संबंधी अनित्य अशुद्ध पर्यायों को ग्रहण करता है, वह विभाव, अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक नय है ।[८२]

इस प्रकार आचार्यों ने ग्रन्थों में वस्तु विवेचना में जो तथ्य स्पष्ट किये उनके आधार पर यहाँ नयों के छह प्रकार (भेद) बताये गये हैं । ग्रन्थान्तरों में पर्यायार्थिक नय के ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ एवं एवंभूत ये चार भेद मिलते हैं ।[८३] अर्थ नय - व्यंजन नय के रूप में भी नय के भेद कहे गये हैं ।[८४] नयों का विस्तार से कथन आगम ग्रन्थों में द्रष्टव्य है । यहाँ संक्षेप में ही पाठकों की सुविधा हेतु किया है ।

आध्यात्मिक नय विषयक विवरण :-

जैन श्रमण परंपरा में सत्य प्रतिपादित करने हेतु प्रमाण की मुख्यता हैं तथा सापेक्ष सत्य की अपेक्षा से नय व्यवहार भी मान्य है । पूर्व में आगमिक नयों के विषय में सविस्तार वर्णन किया जा चुका है । सम्प्रति आध्यात्मिक विवेचना शैली जिसमें प्रमुखता से विशुद्धता का लक्ष्य है । इस प्रकार नय शैली का प्रयोग करके आचार्यों ने किस प्रकार जैन सिद्धांत का अविरोधी स्वरूप स्थिर रखा यह वास्तव में एक अद्भुत प्रयोग है जो मनन करने योग्य है ।

आगमिक नयों की तरह आध्यात्मिक नयों का भी एक स्वतंत्र स्थान हैं जिसे आचार्य श्री देवसेनजी ने आलाप पद्धति में उल्लेख करते हुए लिखा हैं - "अब पुनः अध्यात्म भाषा में नयों को कहते हैं"[८५] उक्त कथन से यही ध्वनित होता कि नय आध्यात्मिक स्वतंत्र तथा विशिष्ट भूमिका वाले हैं, इस नय के मूल दो भेद हैं - १. निश्चय २. व्यवहार[८६]

---

८१. कर्मोपाधि सापेक्ष स्वभावोऽनित्याशुद्ध पर्यायार्थिको यथा संसारिणामुत्पत्ति मरणे स्तः । -आ.प.सू. ६३

८२. भणइ अणिच्चा शुद्धा चउगइजीवाण पज्जया जोहु ।
होइ विभाव अणिच्चो असुद्धओ पज्जयत्थिणओ ॥ - प्रा. न. च. (माइल्ल) गा. २०४.

८३. ता. वृ. १।३३

८४. ध. सं. पृ. ८५ (क.पा.पृ. २०२ टी. १८४ सं.१)

८५ पुनरप्यध्यात्म भाषया नया उच्यन्ते । -आ.प.सू. २१४

८६. तावन्मूल नयौ द्वौ निश्चयो व्यवहारश्च । -आ.प.सू. २१५

१. निश्चय नय एवं भेद :-

अभेद दृष्टि से कथन निश्चय नय का आधार है । इसमें अनुपचार अभेदपूर्वक ही वस्तु का निश्चय होता है,[८७] जो नय वस्तुतत्व को इस रीति से ग्रहण करता है वह निश्चय नय है ।[८८] क्योंकि यह नय आत्मा के आश्रित हैं ।[८९] इसमें कर्ता कर्म आदि भाव एक दूसरे से भिन्न नहीं है ।[९०] द्रव्याश्रित होने से यह एक जीव के स्वाभाविक भाव का आलंबन कर प्रवृत्त होता है तथा अन्य भावों को विभाव कह कर निषेध करता है ।[९१] इस कारण यह भी दो भेदों में विभाजित हैं । (१) शुद्ध निश्चय नय (२) अशुद्ध निश्चय नय[९२]

(१) शुद्ध निश्चय नय :- जो नय कर्मोपाधि रहित गुण और गुणी को अभेद रूप से ग्रहण करता है वह शुद्ध निश्चय नय है । जैसे - केवल ज्ञानादि स्वरूप जीव है,[९३] यह नय संसारी छद्मस्थ जीवों में केवलज्ञानादि गुणों को शक्ति रूप से तथा मुक्तजीवों में व्यक्त रूप से मानता है । अर्थात् जिस प्रकार से व्यक्त रूप में सिद्धात्मा में निर्मल ज्ञानादि गुण हैं वैसे ही संसारी जीवों में सम्प्रति वे शक्ति रूप में है ।[९४] इस नय से द्रव्य की शुद्ध अवस्था को ही ग्रहण किया है । चाहे वह व्यक्त रूप हो अथवा शक्ति रूप, पर्याय की ओर इसका लक्ष्य नहीं है । इसी कारण मुक्तात्मा की तरह यह वर्तमान शरीर में भी परमात्मा को शक्ति रूप में मान्य करता है ।[९५] निश्चय

---

८७. तत्र निश्चयनयोऽभेद विषयो, व्यवहारो भेद विषयः । -आ.प.सू. २१६
८८. अभेदानुपचारितया वस्तुनिश्चीयत इति निश्चयः । -आ.प.सू. २०४
८९. आत्माश्रितो निश्चय नयः । -स. सा. आ. टी. - गा. २७२
९०. अभिन्न कर्तृकर्मादि विषयो निश्चयो नयः । -त. आ. ५९
९१. निश्चय नयस्तु द्रव्याश्रित्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति । ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानान्ता भावा जीवस्य सन्ति निश्चयेन तु न सन्तीतियुक्ताः प्रज्ञप्तिः । स. सा. आ. टी., गा. ५६
९२. तत्र निश्चयो द्विविधः शुद्धनिश्चयोऽशुद्ध निश्चयश्च । -आ.प.सू. २१७
९३. तत्र निरूपाधिक गुण गुण्यभेद विषयकः शुद्ध निश्चयो यथा केवलज्ञानादयो जीव इति । -आ. प. सू. २१८
९४. यथा निर्मलो ज्ञानमयो व्यक्तिरूपः शुद्धात्मा सिद्धौ तिष्ठति तथाभूतः शुद्ध निश्चयेन शक्ति रूपेण देहेऽपि तिष्ठतीति... । -प. प्र.- दो. ४९
९५. केवलज्ञानान्तर्भूतानन्त गुण परिणतः सिद्धोमुक्तो मुक्तौ निवसति तिष्ठति देवः परमाराध्यः तादृशः पूर्वोक्त लक्षण सदृशः क्व निवसति तिष्ठति ब्रह्मा शुद्ध बुद्धैक स्वभावः परमात्मा पर उत्कृष्टः । क्वनिवसति .... । देहे । केन। शुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन । -प. प्र. टी. दो. २६

दृष्टि से संसारी आत्मा रागादि भावों से शक्ति रूप से शून्य है और मुक्तात्मा व्यक्त रूप से शून्य है इस प्रकार शक्ति रूप - व्यक्त रूप में अंतर जानना चाहिए ।[९६]

निश्चय शब्द से प्रारब्ध योगी, अभ्यासी, प्राथमिक जघन्य पुरूष की अपेक्षा से तो निश्चय के अनुकूल व्यवहार रत्नत्रय को ग्रहण करना चाहिए तथा निष्पन्न योगी, उत्कृष्ट अभ्यासी योग में निश्चल पुरुष की अपेक्षा (मध्यम धर्म ध्यान की अपेक्षा) व्यवहार रत्नत्रय के अनुकूल निश्चय रत्नत्रय को ग्रहण करना चाहिए । निष्पन्न योग उत्कृष्ट धर्मध्यानी की अपेक्षा शुद्धोपयोग रूप विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चय नय ग्रहण करना चाहिए । विशेष शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा त्रियोग के संकल्प विकल्परहित आत्मा में रत हो[९७] यह कथन शुक्ल ध्यान की अपेक्षा से समझना चाहिए ।

(२) अशुद्ध निश्चय नय :- जो नय कर्मोपाधि सहित गुण और गुणी को अभेद रूप से ग्रहण करता है वह अशुद्ध निश्चय नय है । जैसे मतिज्ञान आदि स्वरूप जीव है ।[९८] क्योंकि ज्ञान जीव में ही होता है । अतः यह नय मतिज्ञानादि रूप जीव को कहता है । हालाँकि मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक भाव है, जीव का मूल स्वभाव नहीं, फिर भी अशुद्ध दशा में जीव के पाया जाता है । इसी कारण इस नय की अशुद्ध निश्चय नय संज्ञा है । जीव कर्मोपाधि के कारण अशुद्ध होने से उस काल में (रागादि विभावकाल में) अग्नि से तप्त लौह पिण्ड के समान तन्मय होने से निश्चय कहा जाता है । इस प्रकार अशुद्ध और निश्चय इन दोनों के आधार से अशुद्ध निश्चय नय कहा जाता है ।[९९]

व्यवहार नय एवं भेद :-

व्यवहार नय कथंचित् पर्यायार्थिक नय है । क्योंकि गोम्मटसार जीवकांड में व्यवहार, विकल्प, भेद व पर्याय ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं ।[१००]व्यवहार नय

---

९६. संसारिणां निश्चयनयेन शक्तिरूपेण रागादि विभाव शून्यं च भवति । मुक्तात्मनां तु व्यक्ति रूपेणापि ... । - **प. प्र., दो. ५५, टी. पृ. ५३, पं. १५-१६**

९७. जं किंचिवि चिंतंतो णिरीह वित्ती हवे जदा साहू ।
लद्धूणय एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं झाणं ॥- **वृ. द्र. सं., गा. ५५, पृ. १७५**

९८. सोपाधिक विषयोऽ शुद्ध निश्चयो यथा मतिज्ञानादयो जीव इति ।**आ. प. सू. २१९**

९९. रागादि विकल्प रूप चेतन कर्मणामशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता भवति। अशुद्ध निश्चयस्यार्थः कथ्यते--कर्मोपाधि समुत्पन्नत्वाद शुद्धः तत्काले तप्तायः। पिण्डवत्तन्मयत्वाच्च निश्चयः, इत्युभत्यमेलापकेनाशुद्धनिश्चयो भण्यते। - **वृ. द्र. सं., टी. पृ. १७, गा. ८**

१००. व्यवहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति एयट्ठो । - **गो. जी. मू. ५७२/१०१६**

अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है ।[१०१] व्यवहार नय पर्याय (भेद) रूप कलंक से युक्त होने से अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है ।[१०२] व्यवहार नय को निश्चय मान लेना व्यवहाराभास है । क्योंकि द्रव्य और पर्यायों के आरोपित किये गये कल्पित विभागों को जो वास्तविक मान लेता है वह प्रमाणबाधित होने से व्यवहार नयाभास है ।[१०३]

व्यवहार नय भी उपनय है क्योंकि उपनय से व्यवहार नय उत्पन्न होता है और प्रमाण, नय व निक्षेपात्मक वस्तु का भेद व उपचार द्वारा भेद व अभेद करने को व्यवहार कहते है ।

प्रश्न : व्यवहार नय, उपनय से कैसे उत्पन्न होता है ?

उत्तर : क्योंकि सद्भूतरूप उपनय तो अभेद रूप वस्तु में भेद उत्पन्न करता है और असद्भूत रूप उपनय भिन्न वस्तुओं में अभेद का उपचार करता है ।[१०४]

जो नयों के समीप हो अर्थात् नय की भांति हो, ज्ञाता के अभिप्राय स्वरूप हो उन्हें उपनय कहते हैं और वह उपनय सद्भूत, असद्भूत व उपचरित असद्भूत के भेद से तीन प्रकार का हैं ।[१०५]

जो नय भेद रूप से वस्तु का विषय करता है। वह व्यवहार नय है।[१०६] एक अभेद वस्तु में जो धर्मो का अर्थात् गुण-पर्यायों का भेद रूप (उपचार) करता है वह व्यवहार नय है।[१०७]यह नय भिन्न कर्ता कर्मादि विषयक है।[१०८] प्रमाण, नय

---

१०१. व्यवहार नयोऽशुद्ध द्रव्यार्थिकः । -श्लो.वा. २/१/७/२८/५८५/१

१०२. पर्याय कलङ्कितया अशुद्ध द्रव्यार्थिकः व्यवहार नयः।-ध. ९/४, १, ४५/१७१/३

१०३. कल्पनारोपित द्रव्य पर्याय प्रविभागभाक् ।
प्रमाण बाधितोऽन्यस्तु तदा भासोऽवसीयताम् ॥ -श्लो. वा. ४/१/३३/६०/२४४

१०४. उपनयोपजनितो व्यवहारः । प्रमाण नय निक्षेपात्मकः भेदोपचाराभ्यां वस्तु व्यवहरतीति व्यवहारः । कथमुपनयस्तस्य जनक इतिचेत्, सद्भूतो भेदोत्पादकत्वात् असद्भूतस्तूपचारोत्पादकत्वात् । - न. च. / श्रुत २९/१७

१०५. नयानां समीपाः उपनयाः। सद्भूतव्यवहारः असद्भूत व्यवहारः उपचरितासद्भूतव्यवहार-श्चेत्युपनयस्त्रेधा । -आ.प. ४३, ४४

१०६. संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः ।- स.सि. १/३३/१९२ २
व्यवहारो भेद विषयः । -आ.प.सू. २१६

१०७. यः संग्रह गृहीतार्थ शुद्धा शुद्धे विभेदक ।
शुद्धाशुद्धाभिधानेन व्यवहारो द्विधा मतः ॥ न. च. श्रुत., श्लो. २२ पृ. ५०

१०८. व्यवहार नयो भिन्नकर्तृकर्मादि गोचरः । -त.आ.मू. २९

निक्षेपात्मक वस्तु को जो भेद द्वारा भेद या उपचार द्वारा भेद या अभेद रूप करता है वह व्यवहार है ।[१०९] व्यवहार नय के मुख्य दो भेद हैं । (१) सद्‌भूत व्यवहार नय (२) असद्‌भूत व्यवहार नय ।[११०]

(१) सद्‌भूत व्यवहार नय : जो एक वस्तु के अवयव को भेद रूप से ग्रहण करता है वह सद्‌भूत नय है ।[१११] विवक्षित वस्तु के मौजूद गुणों का नाम सद्‌भूत है और उन धर्मों की उस वस्तु में भेद रूप प्रवृत्ति का नाम व्यवहार है ।[११२] क्योंकि गुण और गुणी में अथवा पर्याय व द्रव्य में कर्ता, कर्म, करण आदि कारक संबंधों का कथंचित् सद्‌भाव होता है उसे जानकर जो द्रव्यों में भेद करता है वह सद्‌भूत व्यवहार नय है ।[११३] इसके भी मुख्य दो भेद हैं [११४] (१) शुद्ध सद्‌भूत व्यवहार नय (२) अशुद्ध सद्‌भूत व्यवहार नय

शुद्ध सद्‌भूत व्यवहार नय :-

यह नय शुद्ध गुण और गुणी, शुद्ध पर्याय और पर्यायी को विषय करता है ।[११५] निरूपाधि गुण-गुणी में भेद विषयक नय अनुपचरित सद्‌भूत व्यवहार नय है । जैसे- केवलज्ञानादि जीव के गुण हैं।[११६] यहाँ जीव लक्षण निरूपण में केवलज्ञानदर्शन के प्रति शुद्ध सद्‌भूत शब्द के वाच्य अनुपचरित सद्‌भूत व्यवहार है। यह जीव के गुण होते हुए भी उनको लक्ष्य बनाकर जीव का लक्षण कहना अनुपचरित सद्‌भूत व्यवहार नय है।[११७]

---

१०९. न. च. श्रु. गा. २२, पृ. ५०

११० व्यवहारो द्विविधः सद्‌भूत व्यवहारोऽसद्‌भूत व्यवहारश्च । - आ.प.सू. २२०

१११ तत्रैक वस्तु विषयः सद्‌भूत व्यवहारः । आ.प.सू. २२१

११२ व्यवहारनयो द्वेधा सद्‌भूतस्त्वय भवेदसद्‌भूतः
सद्‌भूतस्तद्‌गुण इति व्यवहारस्तत्प्रवृत्तिमात्रत्वात्। पं.ध./पू.५२५

११३. गुण गुणीपज्जाय दव्वे कारक सब्भावदो य दव्वेसु ।
तोणाऊणं भेयं कुणयं सब्भूय सद्धियरो ॥ - न. च. वृ. (माइल्ल) गा. २२०

११४. सद्‌भूत व्यवहारो द्विधा । - आ.प.सू. ८१

११५. शुद्ध सद्‌भूत व्यवहारो यथा शुद्ध गुण शुद्ध गुणिनोः शुद्ध पर्याय शुद्ध पर्यायिणोर्भेद कथनम्। -आ. प. सू. ८२

११६. निरुपाधि गुण गुणिनो र्भेद विषयोऽनुपचरित सद्‌भूत व्यवहारो यथा जीवस्य केवल ज्ञानदयो गुणाः । -आ.प.सू. २२५

११७. केवल ज्ञानदर्शनं प्रति शुद्धसद्‌भूत शब्दवाच्योऽनुपचरित सद्‌भूत व्यवहारः । -वृ. द्र. सं. टी. ११६

११८. अशुद्ध सद्‌भूत व्यवहारो यथाऽशुद्धगुणाऽशुद्धगुणिनोरशुद्धपर्यायाशुद्ध पर्यायिणोर्भेद कथनम्। -आ. प. सू. ८३

अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय :-

यह नय अशुद्ध गुण-गुणी, पर्याय-पर्यायी में भेद का कथन करता है जिससे इसे अशुद्ध असद्भूत व्यवहार नय कहा जाता है।[११८] उपाधिसहित गुण-गुणी में भेद को विषय करनेवाला उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है जैसे मतिज्ञानादि जीव के गुण है[११९] अशुद्ध सद्भूत व्यवहार से मतिज्ञानादि विभाव गुणों का आधार होने से अशुद्ध जीव है[१२०] छद्मस्थ जीव के ज्ञान दर्शन की अपेक्षा से अशुद्ध सद्भूत शब्द से वाच्य उपचरित सद्भूत व्यवहार है[१२१] यह अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नय ही उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है ये दोनों एकार्थवाची हैं।

असद्भूत व्यवहार नय :-

भिन्न - भिन्न वस्तु को विषय करने वाला असद्भूत व्यवहार नय है,[१२२] अर्थात् अन्य द्रव्य को अन्य गुण कहना असद्भूत व्यवहार नय की श्रेणी में आता है।[१२३] जैसे इन्द्रिय, श्वासोच्छवास आदि दस प्रकार के प्राण जीव के हैं ।[१२४] ज्ञेय को ज्ञान कहना, श्रद्धेय को दर्शन कहना - देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है। आचरणीय को चारित्र - हिंसादि का त्याग चारित्र है यह सब कथन असद्भूत व्यवहार नय से जानना चाहिए ।[१२५] इस नय की सीमा में कर्म-नोकर्म भी चेतन स्वभावी है ।[१२६]जीव का भी मूर्त स्वभाव है[१२७]और पुद्गल का अमूर्त व उपचरित है[१२८] परमेष्ठी को नमस्कार यह वचनात्मक नमस्कार भी असद्भूत व्यवहार नय से होता है ।[१२९]

---

११९. तत्र सोपाधि गुण गुणिनो र्भेद विषयः उपचरित सद्भूत व्यवहारो यथा जीवस्य मतिज्ञानदयो गुणाः । -आ.प.सू. २२४

१२०. अशुद्धसद्भूत व्यवहारेण मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूत्वादशुद्धजीवः। नि.सा. ता. वृ. ९

१२१. छद्मस्थज्ञानदर्शनापरिपूणपिक्षया पुनरशुद्सद्भूतशब्द्वाच्य उपचरितसद्भूत व्यवहारः। वृ.द्र.सं.टी. ६

१२२. भिन्न वस्तुविषयोऽसद्भूत व्यवहारः ॥ -आ.प.सू. २२२

१२३. अण्णेसिं अण्णगुणो भणइ असब्भूद तिविह तेदोवि ।
सज्जाइ इयर मिस्सो णायव्वो तिविह भेय जुदो ॥-न. च. वृ. (माइल्ल) २२३

१२४. एयं दिया इदेहा णिव्वत्ता जे वि पोग्गले काए ।
ते जो भणइ जीवा व्यवहारो सो विजाईओ ॥ -न. च. गा. ११३

१२५. चरियं खलु चारित्तं णायव्वं तह असब्भूवं । -न. च. ३२०

१२६. असद्भूत व्यवहारेण कर्म नो कर्मणोरपि चेतन स्वभावः ।-आ. प. सू. १६०

१२७. जीवस्याप्य असद्भूत व्यवहारेण मूर्त स्वभावः । -आ. प. १६४

१२८. पुद्गलस्योपचारा देवास्त्य मूर्त्तत्वम् । -आ. प. सू. १६६

१२९. नमो जिनेभ्यः इति वचनात्मक द्रव्य नमस्कारोऽप्यसद्भूतव्यवहारनयेन .... ।
-पं.का. गा. १, ता. वृ. पृ. ४ प. २१

इस नय के भी मुख्य दो भेद हैं - (१) उपचरित असद्भूत व्यवहार नय (२) अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय[१३०]

उपचरित असद्भूत व्यवहार नय :-

संक्लेशता रहित वस्तुओं के संबंध में विषय करने वाला उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे - देवदत्त का धन कहना।[१३१] यद्यपि असद्भूत व्यवहार ही उपचार है और ऐसे उपचार का भी जो उपचार करता है उसकी उपचरित असद्भूत व्यवहार नय संज्ञा होती है।[१३२] यह नय आत्मा को घट पटादि का कर्त्ता[१३३] सिद्धात्मा मोक्ष शिला पर विराजमान[१३४] जीव पंचेन्द्रिय विषयों का भोक्ता[१३५] अथवा त्यागी [१३६] क्रोधादि विभावों का स्वामी है[१३७] इस प्रकार कथन करता है।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय :-

संक्लेश सहित वस्तुओं के संबंध को विषय करनेवाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे जीव का शरीर है[१३८] जीव मूर्त है[१३९] कर्म-नोकर्म रहित[१४०] देह से अभिन्न[१४१] कर्मों का दहन करने वाला[१४२], द्रव्यकर्मों का कर्त्ता-भोक्ता, नोकर्म

---

१३०. असद्भूत व्यवहारो द्विविधः उपचरितानुपचरित भेदात्। -आ.प.सू. २२६

१३१. तत्र संश्लेष रहित वस्तु संबंध विषय उपचरितासद्भूत व्यवहारो यथा देवदत्तस्य धनमिति। -आ.प.सू. २२७

१३२. असद्भूत व्यवहार एवोपचारः, उपचारादप्युपचारंः करोति स उपचरितासद्भूत व्यवहारः। -आ.प.सू. २०८

१३३. उपचरितासद्भूतव्यवहारेण घट पट शकटादीनां कर्त्ता इत्यशुद्धजीवस्वरूपमुक्तम्। - नि. सा. ता वृ. १।१८

१३४. लोकाकाश प्रमिता संख्येय स्वकीय शुद्ध प्रदेशेषु यद्यपि निश्चय नयेन सिद्धास्तिष्ठन्ति, तथाप्युपचरितासद्भूत व्यवहारेण मोक्षशिलायां तिष्ठन्तीति भण्यते। -वृ. द्र. सं. टी. पृ. ४५ गा. १९

१३५. उपचरितासद्भूत व्यवहारेणेष्टानिष्ट पंचेन्द्रिय विषय जनित सुख दुःखं भुङ्क्ते। - वृ. द्र. सं. टी. पृ. १९ गा. ९ पं. १

१३६. तत्रयोऽसौ बहिर्विषये पञ्चेन्द्रिय विषयादि परित्यागः स उपचरितासद्भूत व्यवहारेण...। वृ. द्र. सं. टी. गा. ४५, पृ. १५५ पं. ३

१३७. क्रोधादि कर्मज भाव आत्मा। - आ.प.सू. ५० - न. च. गा. २१

१३८. संश्लेष सहित वस्तु संबंध विषयोऽनुपचरितासद्भूत व्यवहारो, यथा जीवस्य शरीरमिति। -आ. प. सू. २२८

१३९. यद्यमूर्तस्तर्हितस्य कथं कर्मबन्ध इति चेत् "ववहारा मुत्ति" अनुपचरितासद्भूत व्यवहारान्मूर्त्तो ..। - वृ. द्र. सं. टी. पृ. १६, गा. ७

१४०. अनुपचरितासद्भूत व्यवहार संबंधः द्रव्यकर्म नोकर्मरहितं। - प.प्र.टी. /७

१४१. अनुपचरितासद्भूत व्यवहार नयेन देहादभिन्नं ...। -प. प्र., दो. १४

१४२. कर्ममल कलङ्कान् दग्धवा कर्ममल शब्देन द्रव्यकर्म भावकर्माणि गृहयन्ते।-प. प्र. दो.१

का कर्ता है[१४३] इस प्रकार संक्षेप में नय का कथन किया गया है विज्ञ पाठकगण आगम ग्रन्थ से सविस्तार जानकारी करें । नयों की विवेचना से यह स्पष्ट है कि आगम, अध्यात्म में वर्णित नय पृथक-पृथक हैं किन्तु वे सभी सापेक्ष हैं ।[१४४] एतदर्श वे सभी सम्यक् नय हैं जिन प्रणीत होने से असत्प्ररूपणा की गुंजाइश किंचित् भी नहीं है ।[१४५] कहीं - कहीं पर आचार्यों ने इन्हीं नयों को परस्पर एक रूप से समझाते हुए उन्हें पूरक बताते हुए साध्य--साधक भाव से कहा है।[१४६] शुद्ध अशुद्ध निश्चय नय (आध्यात्मिक नय भेद) को पंचाध्यायी में द्रव्यार्थिक नय के भेदों में गिनाया गया है तथा आलाप पद्धति में भी इसी मत का समर्थन है[१४७] समयसार तात्पर्य वृत्ति में शुद्ध द्रव्यार्थिक नय निश्चय में गर्भित है,[१४८] तथा व्यवहार नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय के रूप में श्लोक वार्तिक में उल्लिखित है।[१४९] धवलाजी में भी यही मत मिलता है । संग्रह नय शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है[१५०] तथा पर्यायार्थिक नय कथंचित् व्यवहार नय की सीमा में है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में व्यवहार विकल्प भेद व पर्याय को एकार्थवाची कहा हैं[१५१] इसे पंचाध्यायी में भी स्वीकार किया गया है कि दोनों एकार्थवाची हैं सभी व्यवहार केवल उपचार रूप होता है[१५२] आगमभाषा में कथित क्षायोपशमादिक भाव (अध्यात्म भाषा के) अशुद्धनिश्चय

१४३. आसन्नगतानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयाद् द्रव्यकर्मणां कर्ता तत्फलरूपाणां सुख दु:खानां भोक्ता च, अनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण नोकर्मणां कर्ता। **नि.सा.ता.वृ. १।१८**

१४४. हि: कथंचित् भेद: परस्पराविना भावत्वेन निश्चय व्यवहारयो नाकुलासिद्धि: ।
-न. च. श्रु. पृ. ८१

१४५. निरपेक्षनया मिथ्या: **आ.मी. श्लो. १०८**

१४६. त एते गुण प्रधानतया परस्परतन्त्रा: सम्यग्दर्शन हेतव: पुरुषार्थक्रियासाधन सामर्थ्यात्तत्वादय इव यथोपायं विनिवेश्यमाना: पटादिसंज्ञा: स्वतन्त्राश्चासमर्था:।
स. सि. १/३३ पृ. १०४, प. ५-६

१४७. **देखो आ. प. - अध्यात्मनय प्रकरण हिन्दी टी., पृ. १२०**

१४८. ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरितं ण दंसणं जाणगो सुद्धो॥ **स. सा. गा. ७**

१४९. शुद्धद्रव्यमशुद्धं च तथाभिप्रैति यो नय:। स तु नैगम एवेह संग्रह व्यवहारत: ३७
यस्तु पर्यायवद् द्रव्यं गुणवद्वेति निर्णय:
व्यवहार नयाज्जात: सो ऽशुद्ध द्रव्य नैगम: ॥ ३९ ॥ **त. श्लो. वा. ४/१/३३**

१५०. तत्र सत्तादिना य: सर्वस्य पर्यायकलंकाभावेन। अद्वैततत्त्वमध्यवस्येति शुद्धद्रव्यार्थिक: स: संग्रह:॥ **ध.आ.प.५४३ (ज.ध.पृ.२००, टी.१८२सं.२)**

१५१. ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति एयट्ठो ।
ववहार अवट्ठाणट्ठिदी हु ववहार कालो दु ॥ **- गो. जी. गा. ५७२**

१५२. **पं.अ.पू. श्लो, ५२१**

नय है।[153] रागादि विभाव परिणामों का उपादान अशुद्ध निश्चय नय है[154] और वह अशुद्ध निश्चय नय व्यवहार नय ही है समय सार तात्पर्यवृत्ति में खुलासा करते हुए लिखा है कि द्रव्य कर्म बन्ध की अपेक्षा से जो यह सद्भूत व्यवहार कहा है उसकी अपेक्षा तारतम्यता हेतु रागादि को अशुद्ध निश्चय नय का विषय बनाया गया है वस्तुत: शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चय नय भी व्यवहार है ।[155] द्रव्यकर्मों की अपेक्षा रागादि को आभ्यंतर संज्ञा कहकर चेतनात्मक मानकर निश्चय संज्ञा भले ही दे दी गई हो किन्तु शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा तो वह व्यवहार ही है।[156] परंपरा से शुद्धात्मा को, साधक होने से, उपचार से शुद्ध नय कहा गया है परंतु शुद्ध निश्चय नय नहीं कहा ।[157] व्यवहार नय से तो परमार्थ का ज्ञान होता है, जाना जाता है तथा इसके बिना तो परमार्थ (निश्चय) का उपदेश भी अशक्य है।[158] अभूतार्थ संज्ञा प्राप्त यह[159] व्यवहार नय भूतार्थ अभूतार्थ दोनों हैं[160]तथा यही स्थिति शुद्ध निश्चय नय की भी है।[161]उक्त कथन का मात्र सार इतना ही है कि आचार्य (ज्ञानीजन - मुनिजन) अज्ञानी जनों को लक्ष्य में लेकर अभूतार्थ व्यवहार नय का उपदेश देते हैं[162] जो व्यवहार को ही सर्वथा सत्य मानते हैं उनके

---

१५३. जे चैव भावरूपा जीवे भूदा खओवसमदो य।
ते होंति भावपाणा असुद्धणिच्छयणयेण णायव्वा॥- **न. च. वृ. (माइल्ल) गा. ११४**

१५४. रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञानमागमभाषया शुक्लध्यानं वा केवलज्ञानोत्पत्तौ शुद्धोपादान कारणं भवति । अशुद्धात्मा तु रागादीनाम् अशुद्ध निश्चयेनाशुद्धोपादानकारणं भवतीति ।
-प्र. सा. ता. वृ. गा. ८, पृ. १८

१५५. ननु वर्णादयो बहिरंगास्तत्र व्यवहारेण क्षीर नीरवत् संश्लेषसंबंधो भवतु नचाभ्यंतराणां रागादीनाम् तत्राशुद्ध निश्चयेन भवितव्यमिति । नैवं, द्रव्यकर्मबंधापेक्षया योऽसौ असद्भूत व्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते । वस्तुतस्तु शुद्ध निश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोऽपि व्यवहार एवेति भावार्थ: । - **स.सा. ता. वृ. गा. ५७ (अजीवाधिकार)**

१५६. अथ राग द्वेष मोह मिथ्यात्वाविरति प्रमाद .... इत्यस्य जीवस्य शुद्ध निश्चयनयेन सर्वाण्येतानि न संति .... । **स.सा. ता. वृ., गा. ५०**

१५७. **प्र. सा. ता. वृ. ८९/२५४**

१५८. जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ **-स.सा. गा. ८**

१५९. ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥ **-स.सा. गा. ११**

१६०. व्यवहार नय: अभूतार्थ: असत्यार्थो भवति भूतार्थश्च देशित: कथित: ।
-स.सा. गा. ११, ता. वृ.।

१६१. शुद्ध निश्चय नयोऽपि द्विधा इति नयचतुष्टयं इदमत्र भूताभूतार्थ भेदेन व्यवहारोऽपि द्विधा शुद्धनिश्चयाशुद्धभेदेन निश्चयनयोऽपि द्विधा इति ...। - **स.सा. ता. वृ., गा. ११ पृ.२३**

१६२. ज्यों अनार्य भाषाविना समझे अनार्य नहिं ।
व्यवहारी व्यवहार विन त्यों परमारथ नाहि ॥ - **स.सा. गा. ८ की भा. टी.**

लिए उपदेश नहीं है ।[१६३] व्यवहार सर्वथा असत्य भी नहीं है[१६४] समयसार के सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण में आचार्य जयसेन स्वामी इसका खुलासा करते हुए बौद्धमत की अपेक्षा से लिखते हैं कि यदि कोई यहाँ आशंका करे कि जैनमत और बौद्धमत की तुलना में बौद्धपक्ष को दूषित कहना ठीक नहीं तो समाधान इस प्रकार है -

प्रश्न : सौगत (बौद्ध) मत में सर्वज्ञपना व्यवहार से है तो उन्हें आप दूषण क्यों देते हो - क्योंकि जैन मत में भी पर पदार्थों को जानना व्यवहार से कहा गया है ?[१६५]

उत्तर : सौगतादि मतों में जिस प्रकार निश्चय की अपेक्षा व्यवहार असत्य है तथैव व्यवहार रूप से भी वह असत्य है । जबकि जैन मत में वह व्यवहार की अपेक्षा सत्य है ।[१६६] यदि इस तथ्य की उपेक्षा की गई तो लोक व्यवहार का संलोप हो जायेगा तथा अतिप्रसंग दोष आयेगा अतः आत्मा व्यवहार से पर द्रव्य का ज्ञाता दृष्टा है ।[१६७] किन्तु निश्चय से स्वयं का ज्ञाता दृष्टा है[१६८] दोनों नय तीर्थंङ्कर द्वारा उपदिष्ट होने से सत्य हैं,[१६९] विषय विवक्षा अवश्य पृथक-पृथक है किन्तु वस्तु भेद नहीं है । जैन नय की विवेचना में चाहे वह किसी भी स्थल पर हो सामयिक सापेक्षता को महत्व दिया गया है तथा अन्य पक्ष को उस समय गौण (अनर्पित) करके स्वीकार किया है[१७०] अर्थात् निश्चय पक्ष की अपेक्षा में व्यवहार और व्यवहार की अपेक्षा में निश्चय पक्ष गौण हैं । इस प्रकार सम्यक् दृष्टिकोण अपना कर नय दृष्टि के मर्म को सार्थक रूप से समझा जा सकता है ।

---

१६३. बंध कहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई । - स.सा. गा. ३

१६४. व्यवहार देसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे । - स. सा. गा. १२

१६५. ववहारणयो भासदि जीवो देहोय हवदि खलु इक्को । -स. सा. गा. २७

१६६. ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ।। - स. सा. गा. ४६

१६७. जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होई ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥
तह पासओ दु ण परस्स पासओ सो दु ॥ -स.सा.गा. ३५६-५७

१६८. अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाण मइओ सदारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि ।। - स. सा. गा. ३८

१६९. **देखो संदर्भ १४४-४५**
नान्यथा वादिनो जिनाः । - आ. प. श्लो. ५

१७०. अर्पितानर्पित सिद्धेः । - त. सू. ५/३२

अशुभोपयोग :

उपयोग को परिभाषित करते समय आचार्यों ने जीव की वर्तमान स्थिति को दृष्टि में रखते हुए अशुभोपयोग की सार्थक विशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत की हैं। प्रवचनकार के शब्दों में विषय-कषायों में संसक्त परिणति या अनुष्ठानात्मक भाववृत्ति रूप उपयोग कुश्रुत श्रवण तथा उसके प्रति ही अनुराग, उन्मार्गी प्रवृत्तियाँ, आर्त-रौद्र ध्यान, पर की निंदा, विकथा में तल्लीनता आदि अशुभोपयोग का प्रमुख लक्षण है।[१७१] इस उपयोग से अभिभूत जीव कषायाग्नि, इन्द्रिय विषय जन्य विषयाग्नि से पीड़ित होकर संसार परिवर्द्धक अशुभ कर्मों का संचय करता है।[१७२] मिथ्यात्वादि पंच प्रत्यय रूप अशुभोपयोग से परिणत आत्मा अशुभ कहलाता है।[१७३] शुभ भाव के विपरीत निर्दयता, मिथ्या ज्ञान-दर्शन रूप उपभोग पापास्त्रव कारण है।[१७४] ध्यान में आर्त-रौद्र ध्यान भी इसी कोटि का भाव है।[१७५] हिंसादि पांच पापों में, क्रोधादि चार कषायों में, मिथ्याज्ञान में, पक्षपात में, मात्सर्य भाव में, अशुभ लेश्या में, विकथा में, असूया में, दण्डों में (मन वचनकाय की अशुभ प्रवृत्ति) शल्य, मान, बड़ाई, ख्याति, पूजा इत्यादि क्रियाओं में जो प्रवृत्ति होती है वह सब अशुभ भाव है।[१७६] इसी विचार पर विशिष्ट प्रकाश डालते हुए आचार्य श्री अमृतचन्द जी लिखते हैं विशिष्ट उदय दशा में रहने वाले दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय रूप कर्म पुद्गलों के अनुसार परिणति में प्रवृत्ति, संसक्ति, अशुभ उपराग वश परमभट्टारक महादेवाधिदेव अर्हंत, सिद्ध और साधु के सिवाय अन्य उन्मार्गी की श्रद्धा में तल्लीनता तथा विषय-कषाय में रूचि, चिंतन, मनन, संगति और तदनुरूप उग्र परिणति में प्रवृत्ति है यह सब

---

१७१. विषयकषायावगाढो ... मिथ्याशास्त्रश्रुतिर्वा । दुश्चित्तम् ... कामभोगचिंता परिणतं . कुशील पुरुषगोष्ठी, उग्रः .... उन्मार्ग परः। ... तत्परिणत पुरुषो वेत्यशुभोपयोगो भण्यते इति ... । -प्र. सा., ता. वृ. गा., १५८

१७२. कषाय दहनो द्दीप्तं विषयैर्व्याकुली कृतम् ।
संचिनोति मनः कर्म जन्म सम्बन्ध सूचकम्।।ज्ञा. (आस्त्रव भा.) टी. पृ. ३३ ।।४।।

१७३. मिथ्यात्वाविरति प्रमाद कषाय योग पञ्च प्रत्यय रूपाशुभोपयोगेनाशुभो विज्ञेयः।
-प्र. सा. ता. वृ. गा. ९, पृ. २०

१७४. विपरीदं पावस्य दु आसव हेउ वियाणाहि । -मू. आ. गा. २३५
शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य । - त. सू ६/३

१७५. अशुभश्च आर्त्त रौद्रम् । -भा. पा.७६

१७६. हिंसादिसु कोहादिसु मिच्छाणाणेसु पक्खवाएसु।
मच्छरिदेसु दुरहिणिवेसेसु असुहलेस्सेसु ।।
विकहादिसु रुद्दट्टज्झाणेसु असुयगेसु दंडेसु ।
सल्लेसु गारवेसु य जो वट्टदि असुहभावो सो ।। -र.सा. ५८, ५९

अशुभोपयोग है ।[१७७] इस प्रकार ज्ञानी आचार्यों ने अनेक प्रकार से अशुभोपयोग को परिभाषित किया है तथा इस मार्ग से विरत रहने की निरंतर प्रेरणा की है क्योंकि यह उपयोग प्राणी मात्र के लिए अत्यंत अहितकारी है । इससे न केवल अशुभ कर्मों का आस्रव बंध होता है अपितु उसके परिणाम स्वरूप (आत्मा) जीव गर्हित रूप, संस्थान, गति, नारक, तिर्यञ्च, कुमानुष पर्याय को प्राप्त कर असह्य दुःख सागर में दीर्घकाल तक परिभ्रमण करता रहता है ।[१७८] अतः संसार संवेगी भव्य प्राणियों को, जो पाप रूप अधर्म है, ऐसे अशुभोपयोग से सदैव विरत रहना चाहिए ।[१७९]

शुभोपयोग :

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने परमार्थभूत देव, यति (साधु) गुरु (शिक्षा-दीक्षा) पूजा, दानादि, उपवासादि तप एवं सुशील युक्त (पांच समिति, तीन गुप्ति) प्रवृत्तियों को शुभोपयोग कहा हैं।[१८०] जो भव्य जिनदेव को जानता है, सिद्ध परमेष्ठी का स्मरण करता है और अनगारों की श्रद्धा-भक्ति, समस्त जीवों पर अनुकम्पा बुद्धि रखता है वह शुभोपयोगी है।[१८१] उक्त विवेचना में गृहस्थ की अपेक्षा सरागसंयम युक्त दान, पूजादि शुभानुष्ठान, तपोधन श्रेष्ठी की अपेक्षा मूल उत्तरगुण युक्त शुभ परिणति, शुभ उपयोग कहलाता है तथा ऐसे जीव शुभोपयोगी कहलाते हैं।[१८२] वैसे भी शुभोपयोग की सीमा में अनेक प्रवृत्तियाँ समाहित है। जैसे - प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, शुद्धि, दान, पूजा, व्रत, शील रूप शुभराग, चित्त प्रसाद रूप परिणाम आदि।[१८३] इसी लक्ष्य पर जोर देते हुए आचार्य श्री ब्रह्मदेव सूरि ने कुछ शुभोपयोगी प्रवृत्तियों की ओर इंगित

---

१७७. **देखो संदर्भ १७१.**

१७८. असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्ख सहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं॥ **-प्र. सा. गा. १२**

१७९. ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्त हेय एवायमशुभोपयोग इति **प्र. सा.त.प्र. गा. १२**

१८०. देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा॥ **-प्र. सा. गा. ६९**

१८१. जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स॥ **-प्र.सा., गा. १५७**

१८२. सराग सम्यक्त्वपूर्वक दान पूजादि शुभानुष्ठानेन, तपोधनापेक्षया तु मूलोत्तर गुणादि शुभानुष्ठानेन परिणतः शुभो ज्ञातव्य इति।-प्र.सा. गा. ९, ता. वृ. टी. पृ. २०

१८३. प्रतिक्रमणाद्यष्ट विकल्परूपः शुभोपयोगो ।-स.सा., ता. वृ. टी., गा. ३०६

करते हुए उनकी प्राप्ति के लिए उद्यत रहने की प्रेरणा की हैं । जैसे प्रत्येक प्राणी को मिथ्यात्व रूपी विष का वमन, सम्यग्दर्शन की भावना, भक्ति ज्ञानाराधना, महाव्रतों का परिपालन, कषायों का विसर्जन, इंद्रियों का दमन, बाह्याभ्यंतर तपों का उद्यम निरंतर करना चाहिए । व्रत, समिति, गुप्ति रूप तेरह प्रकार का चारित्र होने पर भी बाह्याभ्यंतर क्रियाओं के निरोध रूप संयम से रहित शुभोपयोगी लक्षण वाला यह संयम सराग चारित्र कहलाता है ।[१८४] शुद्धोपयोग रूप परमोपेक्षा संयम में असमर्थ साधक शुद्धात्म भावना के सहकारी भूत जो कुछ भी प्रासुक आहार, ज्ञानोपकरणादि को ग्रहण करता है वह सब अपवाद रूप है इसी को व्यवहार चारित्र की संज्ञा प्राप्त है ।[१८५] श्रमणों में (पंच परमेष्ठी) अनुराग वृत्ति, परमागम ज्ञाता मुनिजनों में वात्सल्य वृत्ति का भाव शुभोपयोग कहलाता है ।[१८६] जो (शुभोपयोगी) मुनिजन सराग चारित्र में प्रवृत्त हैं उनको यह भाव बराबर होता रहता है । उनमें वीतराग संयम में स्थित श्रमणों के प्रति श्रद्धा, विनय, वैय्यावृत्ति की भावना होना निषिद्ध नहीं है ।[१८७] अनिष्टज वस्तु के संयोग में उत्पन्न खेद को दूर करना, गुणानुवाद रूप स्तुति करना, गमनागमन काल में विनय करना इत्यादि प्रवृत्तियाँ तो सहज हैं । इनका निषेध नहीं । अपितु धर्म मर्यादा के अनुसार उनका होना स्वाभाविक है । अचरज तो तब होता जब उनमें इन आत्म कल्याणकारी शुभ प्रवृत्तियों का अभाव होता । निश्चय से सराग मुनियों की प्रवृत्तियों में - शिष्य संग्रह - पोषण, जिन भक्ति-पूजन की प्रेरणा, उपदेश, सम्यग्दर्शन ज्ञान का प्रकाश करना प्रमुखता से शामिल है ।[१८८] प्रवचन सार गाथा (४७-५२) के माध्यम से आचार्य कुंदकुंद

---

१८४. पञ्च महाव्रत पञ्च समिति त्रिगुप्तिरूपमप्यपहृत संयमाख्यं शुभोपयोग लक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति।- वृ. द्र. सं., टी. पृ. १५५, गा. ४५, पं. २-३

१८५. तत्रासमर्थः पुरुषः शुद्धात्मभावनासहकारिभूतं किमपि प्रासुकाहारज्ञानोपकरणादिकं गृह्णातीत्यपवादो व्यवहारनय एकदेशपरित्यागस्तथा चापहृतसंयमः सरागचारित्रं शुभोपयोग इति । -प्र.सा.,ता. वृ. गा. २३०,

१८६. अरिहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु ।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥ -प्र. सा., गा. २४६।

१८७. वंदण णमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमण पडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा राय चरियम्हि ॥ -प्र.सा., गा. २४७

१८८. दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरागाणं जिणिंद पूजोवदेसो य ॥ -प्र. सा., गा. २४८

स्वामी ने चतुर्विध श्रमण संघ की षट्काय जीव विराधना रहित सेवा-वैय्यावृत्ति को मुनियों के लिए सराग धर्म प्रधान शुभोपयोगी कहा हैं ।[१८९] श्रावकों को उपदेश देते हुए स्पष्ट कहा है कि देश संयमी श्रावक तथा सकल संयमी मुनि निष्कामवृत्ति से मात्र अनुकम्पा भाव से उपकार करें तो वह क्रिया निर्दोष है ।[१९०] यद्यपि इस शुभाचरण से किंचित् सावद्यता है फिर भी वह दोष रूप नहीं है । आज्ञापरक उपदेश की सीमा में तो वे मुनिजनों को यहाँ तक कहते हैं कि शुभोपयोगी मुनिजन रोग, भूख, पिपासा, श्रम, आदि से यदि पीड़ित हैं तो यथाशक्ति उनकी वैय्यावृत्ति में तत्परता से प्रवृत्त हों ।[१९१]

इस संदर्भ में क्वचित् कदाचित् लौकिक जनों से चर्चा भी संघ संचालन की दृष्टि से आचार्य, संघनायकों को निषिद्ध नहीं हैं ।[१९२] मुनियों के यह चर्चा शुभोपयोग रूप है तथा गृहस्थों को विशेषता अधिक होती है ।[१९३] परमागम में वर्णित इस शुभाचार रूप प्रवृत्ति (शुभोपयोग) से श्रावक तथा मुनि दोनों उत्कृष्ट सुख को प्राप्त करते हैं ।[१९४]

जीव निर्विकल्प समाधि रूप शुद्धोपयोगात्मक शक्ति के अभाव से जब शुभोपयोग रूप सराग चारित्र के द्वारा परिणमन करता है तब वह स्वर्ग सुख को प्राप्त करता है तथा परमसमाधि की सामग्री के सद्भाव होने पर मोक्ष प्राप्त करता है ।[१९५] इस प्रकार शुभभाव की सीमा में द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ, बंध, मोक्ष, अनुप्रेक्षा बारह भावनाओं का चिंतन-मनन, रत्नत्रय रूप धर्म में रूचि-प्रवृत्ति करना इत्यादि अनेक

---

१८९. उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से॥ -प्र.सा. गा. २४९

१९०. जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगार चरियजुत्ताणं ।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥ -प्र. सा. गा. २५१

१९१. रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं ।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ॥ -प्र.सा., गा. २५२

१९२. वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं ।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥ - प्र. सा. गा. २५३

१९३. एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणा घरत्थाणं ।
चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं ॥ -प्र.सा. गा. २५४

१९४. येनाद्य काले यतीनां वैय्यावृत्तं कृतं मुद ।
तेनैव शासनं जैनं प्रोद्यतं शर्मकारणम् ।।-र.मा. ३१ (आ. शिवकोटि कृत)

१९५. सुद्धस्स य णिव्वाणं । - प्र. सा. २७४
यद्यप्यात्मा शुद्धात्मानुभूत्यभावे सति शुभाशुभोपयोगाभ्यां परिणम्य जीवित मरण शुभाशुभ बन्धान् करोति । शुद्धात्मानुभूति सद्भावे तु शुद्धोपयोगेन परिणम्य मोक्षं च करोति । -प. प्र. टी १ ।६८

सत्कार्य समाहित हैं ।[१९६] विषय कषायों से विरक्त जिस भव्य प्राणी की इस रूप में प्रवृत्ति है वह शुभोपयोगी है ।[१९७]

शुभोपयोग का वर्णन जिनागम में मुख्य रूप से दो प्रकार से मिलता हैं । १. परंपरा से मुक्ति हेतुक २. मात्र पुण्य बंधक[१९८]

गुणस्थान ४-६ तक पुण्य बंध के साथ परंपरा से मुक्ति हेतुक शुभोपयोग पाया जाता है तथा गुणस्थान १-३ तक नियम से मात्र पुण्यबंधक शुभोपयोग संभव है - मुक्ति हेतुक नहीं।

धर्मध्यान और शुभोपयोग :

४-६ गुणस्थानों में यथासंभव धर्मध्यान के साथ शुभोपयोग तथा आर्त-रौद्र ध्यान के साथ अशुभोपयोग पाया जाता है ।[१९९] पर ध्यान व उपयोग एक समय एक ही पाये जाते हैं । अथवा शुभोपयोग से वासित योगों की वृत्ति शुभ तथा अशुभोपयोग से वासित योगों की वृत्ति अशुभ है । किन्हीं आचार्यों के मत से (**स.सा./ता.वृ. १९४/२६८/१८**) सम्यग्दृष्टि के अशुभ योग के होने पर भी शुभोपयोग संभव है यथा सम्यग्दृष्टि यद्यपि आत्मा से उत्पन्न सुख को ही उपादेय जानता है और विषय सुख को हेय जानता है तथापि चारित्र मोह के उदय रूप (कोतवाल के द्वारा पकड़ा हुआ उन) वैषयिक सुख-दु:ख को भोगता है । इस कारण उसके लिए वे निर्जरा के कारण है । तथा इन गुणस्थानों में व्यवहार ही धर्मध्यान होता है निश्चय नहीं क्योंकि निश्चय धर्मध्यान सातवें अप्रमत्त गुणस्थान से ही प्रारंभ होता है इसके नीचे ४, ५, ६ गुणस्थान में उपचार से ही धर्मध्यान होता है ऐसा जानना चाहिए ।[२००]

---

१९६. दव्वात्थिकाय छप्पण तच्च पयत्थेसु सत्तणवगेसु ।
    बंधणमोक्खे तक्कारण रुवे वारसाणुवेक्खे ॥
    रयगत्तयस्स रूवे अज्जा कम्मे दयादि सद्धम्मे ।
    इच्चेव माइगे जो वट्टदि सो होदि सुहभावो ॥ -र. सा. गा. ६०-६१

१९७. एतेषुशुभानुष्ठानेषु योऽसौ रत:, द्वेषरूपे विषयानुरागरुपे चाशुभानुष्ठाने विरत:, सजीव: शुभोपयोगी भवति। -प्र.सा., ता. वृ. गा. ६९

१९८. प्र.सा./त.प्र./अ.३ गा. १५५

१९९. भा.पा.गा. ७६

२००. मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमाय विरहिए ठाणे। देश विरए प्रमत्ते उवयारेणेव णायव्वं॥
    गृहस्थ को धर्मध्यान औपचारिक दृष्टि से है (भा. सं. गा. ३७१)
    ध. पु. १३ पृ. ७६ गा. ५५, मो.पा. गा. २ की टी. में भी इसी धारणा की पुष्टि की गई है।
    जिण साहुगुणुक्कित्ताणं प्रसंसणा विणय दाण संपण्णा ।
    सील संजम रदा धम्मझाणे मुणेयव्वा ॥

शुभयोग प्रशस्त राग से शुभास्रव :

आचार्यों ने आस्रव में भाव को प्रमुखता दी है अर्थात् जिस स्तर की भावना या भाव होंगे तदनुरूप आस्रव होगा । शुभोपयोग की दशा में योग (मन-वचन-काय कृत-कारित-अनुमोदना) भी शुभ होगा इसे प्रशस्त राग भी कहा जा सकता है । जीवों पर दया, शुद्धमन-वचन-काय की क्रिया, शुद्ध दर्शन, ज्ञान रूप उपयोग ये सभी पुण्य कर्म के आस्रव के कारण हैं ।[२०१] यम, प्रशम, निर्वेद, तत्व चिंतन, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना की प्रबलता जिन भव्यात्माओं में होती है उनके शुभास्रव होता हैं ।[२०२] अनुकम्पाभाव एवं शुद्ध(शुभ) उपयोग तो पुण्य के मुख्य आस्रव भूत हैं ।[२०३] उपयोग यदि शुभ है तो जीव को पुण्य संचय होता है ।[२०४] जीव के शुभ परिणाम पुण्य है ।[२०५] शुभ परिणामों से पुण्य रूप व्यवहार धर्म मुख्यता से होता है ।[२०६] दान पूजा, व्रत, शील आदि शुभ राग तथा चित्त प्रसाद रूप परिणाम शुभ है ।[२०७] वीतराग परमात्म द्रव्य से विलक्षण पंच परमेष्ठी के प्रतिगुणानुराग प्रशस्त धर्मानुराग है। अनुकम्पायुक्त परिणाम एवं दयासहित मन-वचन-काय के व्यापार रूप परिणाम शुभ परिणाम है तथा चित्त में कालुष्य का न होना, जिसके उक्त शुभ परिणाम होते हैं

---

२०१. देखो संदर्भ, २११

२०२. यम प्रशम निर्वेद तत्त्व चिन्तावलम्बितम् । मैत्र्यादि भावना रूढं मनः सूते शुभास्रवम् ।।

- ज्ञा. (आस्रव भावना) पृ.३२ अ. २-७/३

२०३. प्रशस्त धर्मानुराग : ... अनुकंपा...दया सहितो मनोवचन काय व्यापार रूपः शुभ परिणामः चित्ते नास्ति कालुष्यं मनसि क्रोधादिकलुष परिणामोनास्तिः पूर्वोक्तः त्रयः शुभ परिणामा संति । तस्य जीवस्य द्रव्य पुण्यास्त्रव कारणभूतं भाव पुण्यमास्त्रवतीति।

- पं. का. ता. वृ. गा. १४३, पृ. १९९, प. १२ से

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य । -त. सू. ६/३

२०४. उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि ।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥ -प.सा., गा. १५६

२०५. सुह परिणामो पुण्णं असुहो पावं ति हवदि जीवस्स ।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावोकम्मत्तणं पत्तो ॥ -पं.का.गा. १३२

२०६. सुह परिणामे धम्मु पर असुहे होइ अहम्मु ।
दोहिं वि एहिं विवज्जियउ सुद्धु ण बंधइ कम्मु ॥ -प. प्र. अ. २, दो. ७१

२०७. दानपूजा व्रतशीलादि रूपः शुभरागश्चित्त प्रसाद परिणामश्च शुभ इति सूत्राभिप्रायः।

-पं. का. ता. वृ. गा. १३१

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥ -भा.पा. ८१

उसके द्रव्य पुण्यास्रव का कारणभूत भाव पुण्यास्रव होता है ।[२०८] जिन शासन में व्रत सहित पूजादिक को पुण्य कहा गया है और मोह क्षोभविहीन आत्मा के परिणाम को धर्म कहा है ।[२०९] जिस जीव के प्रशस्त राग है, अनुकम्पा युक्त परिणाम है, चित्त में कलुषता का अभाव है, उसके पुण्यास्रव के प्रमुख आधार है ।[२१०] दया, विशुद्ध उपयोग, विशुद्धज्ञान दर्शनादि उपयोग पुण्याश्रव के प्रमुख आधार है ।[२११] क्योंकि व्रती को ही विशुद्ध परिणामों की प्राप्ति तथा निर्दोष व्रत, चर्या संभव है और उसी भावना से पुण्यास्रव होता है ।[२१२]धर्म पंथ में अग्रसर जनों के दर्शन, तत्संबंधित क्षेत्रों की वंदना, पूज्यजनों की भक्ति, आदर, सद्भाव, विनय करना, उपनयन, संसार से डरना, प्रमाद का त्याग करना इत्यादि कार्यों से शुभनामकर्म की प्रकृतियों का आस्रव होता हैं।[२१३]पुण्यास्रव संबंधी ऐसे अनेक अनगिन कारणों को उल्लेखित किया जा सकता है। जैसे-पंच परमेष्ठी की भक्ति, जीवों पर करूणाभाव, चारित्र में प्रीति, तत्त्वचिंतन, व्रत, संयम, समता, भाव, मैत्री, प्रमोदादि भावनाएँ इन सभी के माध्यम से भव्यजन शुभास्रव अर्जन करते हैं।[२१४] संयमी कायोत्सर्गी मुनिजन विश्व व्यापार से रहित श्रुतज्ञानावलम्वी सत्य रूप पारिणामिक वचन से निरंतर शुभास्रव(शुभ कार्य)करते हैं ऐसा जिनागम सूत्र है ।[२१५]

शुभयोग से संवर निर्जरा :

शुभोपयोग से पुण्यास्रव मात्र नहीं होता अपितु उससे संवर-निर्जरा भी निरंतर होती है, [२१६] अलबत्ता यह प्रश्न मन में उठना स्वाभाविक है जो आस्रव का कारण

---

२०८. रागो जस्स पसत्थो अणुकंपा संसिदो य परिणामो ।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि ॥ **पं. का. गा. १४३,**

२०९. व्रतसमितिगुप्त्यादिबहिरंगचारित्रानुष्ठानवशेन स्वशुद्धात्मनि निश्चलपरिणतिरूप वीतरागचारित्र परिणतत्वात् परमवीतरागचारित्रे सम्यगभ्युत्थितः उद्यतः । स श्रमण एवाभेदनयेन धर्म इति विशेषितो मोहक्षोभ विहीनात्मपरिणामरूपो निश्चयधर्मो भणित इत्यर्थः। **-प्र. सा. ता. वृ. गा. ९२**

२१०. **देखो संदर्भ, २०८**

२११. **मू. आ. (मूला.) २३५**

२१२. तद्विपरीतं शुभस्य । **-स. सि. ६/२३**

२१३. **त. सू. ६/२३-२४**

२१४. **देखो संदर्भ, २०२**

२१५. विकहादि विप्पमुक्को आहाकम्मादि विरहिदो वाणी ।
धम्मुद्देसण कुसलो अणुपेहा भावणा जुदो जोई ॥ **-र. सा. ९४**

२१६. वद समिदी गुत्तीओ धम्माणुपेहा परीसहजओय ।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भाव संवर विसेसा ॥ **- वृ.द्र.सं. ३५,**

हो उसे संवर-निर्जरा का कारण बताना कहाँ तक तर्क संगत है क्या एक साथ जीव के दो उपयोग-मयी प्रवृत्ति संभव है ? आचार्य भगवंत कार्तिकेयानुप्रेक्षा में उक्त आशंका का निवारण करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि जहाँ शुभोपयोग से शुभ्रासव होता है वहाँ अशुभोपयोग की निवृत्ति से संवर या निर्जरा दोनों का मार्ग प्रशस्त होता है ।[२१७] कारण कि दोनों के संदर्भ भिन्न-भिन्न हैं । आस्रव का कारण प्रवृत्ति है तो अशुभ निवृत्ति कारण है संवर-निर्जरा की ।[२१८] अशुभ से हटना तथा शुभ में लगना इसमें कोई बाधा भी नहीं है । इसके सिवाय दोनों उपयोग किसी भी जीव के एक साथ संभव नहीं है । यहाँ इनकी स्थिति इस प्रकार जानना चाहिए जैसे अंधकार की निवृत्ति और प्रकाश का सद्भाव, दोनों का सद्भाव एक जगह संभव होता है । तदैव अशुभ निवृत्ति तथा शुभ प्रवृत्ति को जानना चाहिए । इस स्थिति को आचार्य श्री कुंदकुंद जी ने संवर शब्द से मान्य किया है तथा आचार्य श्री जयसेन जी, श्री ब्रह्मदेव सूरि आदि अनेक आध्यात्मवेत्ताओं ने इसी मत का समर्थन किया है।[२१९] आचार्यों की इस धारणा को भूल या पक्ष व्यामोहता नहीं कहा जा सकता । अपितु सिद्धांत की सुदृढ़ स्पष्ट विवेचना है । इसी कारण से संवर चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ होकर अग्रिम गुणस्थानों में जो संवर है वह शुभोपयोग व्रत, समिति, गुप्ति आदि भाव-संवर के कारणभूत जिन कारणों का व्याख्यान किया है उनमें निश्चय रत्नत्रय का हेतु व्यवहार रत्नत्रय रूप शुभोपयोग है, उसका निरूपण करने वाले जो वाक्य हैं वे सब पापास्रव के संवर में कारण रूप जानना चाहिए ।[२२०] मुनियों की दैनंदिनी क्रियाओं में कृतकर्म का वर्णन करते हुए आचार्य ने इन्हें नित्य करने का

---

२१७. संमत्तं देस वयं महव्वयं तह जओ कसायाणं ।
एदे संवर णामा जोगाभावो तहा चेव ।। -का. अ. गा. ९५ ।

२१८. सुहजोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स ।
स समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चारित्रैः ..... । -वा. अ., गा. ६३
तपसा निर्जरा च । त. सू. ९/२-३

२१९. चेदण परिणामो जो कम्मस्सासव णिरोहणे हेदू ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणे अण्णो। -वृ. द्र. सं., गा. २३४

२२०. **देखो संदर्भ २१६**
जन्म जन्म कृतं पापं जन्म कोटिभि रर्जितम् ।
जन्म मृत्यु जरा रोगं, हन्यते जिन दर्शनात् ॥
अद्याभवत्सफलता नयन द्वयस्य, देव ! त्वदीय चरणाम्बुज वीक्षणेन ।
अद्य त्रिलोक तिलक प्रतिभासते मे। संसार वारिधि रयं चुलुक प्रमाणः॥ **(दर्शन पाठ)**
सम्यग्ज्ञान चरित्र दर्शनलता संवृद्धि संपादकं कीर्ति श्री जय साधक तव जिन स्नानास्य गंधोदकम् । **(अभिषेक पाठ)**

उपदेश दिया है क्योंकि ये सभी मोक्षमार्ग में कारणभूत अविपाक कर्मों की निर्जरा के स्थान(हेतु) हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुभोपयोग भी संवर निर्जरा का कारण है ।

मोक्ष हेतुक शुभोपयोगी पुण्य आचरणीय :

जिन कथित आगमिक सूत्रों के मर्म को ठीक से न समझ सकने वाले श्रावकगण मोक्षमार्ग की साधना में पुण्य को सर्वथा हेय मानकर उसकी उपेक्षा करते हैं किन्तु वास्तविकता इससे पर है।आचार्यों ने आगमिक ग्रन्थों के मर्म को उद्घाटित करते हुए अनेक स्थलों पर इस भ्रम का साधार निराकरण किया हैं और सम्यग्दृष्टि को भी शुभोपयोगी पुण्यास्रव करने की प्रेरणा की है क्योंकि वह भी मोक्ष का हेतु है।[२२१] यहां जिज्ञासुओं के मन में पुण्य के फल जानने की तीव्र भावना होना स्वाभाविक है। क्योंकि फल को जाने बिना कर्म की ओर दौड़ना ज्ञानीजनों का कार्य नहीं है। आचार्य भगवंत इसी तथ्य को ध्यान में रखकर कथन करते हैं कि महापुरुषों के जीवन में प्राप्त दृष्टव्य विशेषताओं की ओर हमें देखना चाहिए यथाः-

प्रश्न : पुण्य के फल कौन से हैं ?

उत्तर : तीर्थङ्कर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, देव, विद्याधर इत्यादि को प्राप्त ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं,[२२२] तथा इसी क्रम से उत्तम गति प्राप्त करते हुए धर्म (पुण्य) से भव्यजन मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

---

२२१. सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम् । कथं पुण्यं करोतीति ? तत्र युक्तिमाह । यथा कोऽपिदेशान्तरस्थमनोहरस्त्री समीपादागतपुरुषाणां तदर्थे दानसन्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिरप्युपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति चारित्रमोहोदयात्तत्रासमर्थः सन् निर्दोष परमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधूनां च परमात्मपद प्राप्त्यर्थं विषयकषायवंचनार्थं च दानपूजादिना गुणस्तवनादिना वा परमभक्ति करोति तेन भोगाकांक्षादि निदानरहित--परिणामेन कुटुम्बिनां पलालमिव अनीहितवृत्या विशिष्ट पुण्यमास्रवति तेन च स्वर्गे देवेन्द्रलोकान्तिकादिविभूर्ति प्राप्य विमानपतरीवारादिसंपदं जीर्णतृणमिव गणयन् पंचमहाविदेहेषु गत्वा पश्यति । किं पश्यतीति चेत् तदिदं समवसरणं त एते वीतरागसर्वज्ञाः त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधका गणधरदेवादयो ये पूर्वश्रूयन्ते त इदानीं प्रत्यक्षेणदृष्टा इति मत्वा विशेषण दृढ़धर्ममति र्भूत्वा चतुर्थ गुणस्थान योग्यामात्मनो विरतावस्थामपरिज्यजन् भोगानुभवेऽपि सति धर्म ध्यानेन कालं नीत्वा स्वर्गादागत्य तीर्थंकरादिपदे प्रासेऽपि पूर्वभवभावित विशिष्ट भेदज्ञान वासनाबलेन मोहं न करोति ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा पुण्यपापरहितनिज परमात्मध्यानेन मोक्षं गच्छतीति । - वृ. द्र. सं. टी. २/३८

२२२. तित्थयर गणहर रिसि चक्कवट्टि बलदेव - वासुदेव-सुर विज्जाहररिद्धीओ ।
-ध. पु. १/१, १, २, पृ. १०५, प. ४ - र.सा. गा. २०

धर्म से बढ़कर कोई वस्तु संसार में श्रेष्ठ नहीं है, इससे रहित जीवन पशु तुल्य है । **(धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना)** ज्ञानीजन आत्मपरिणाम को ही पुण्य पाप का कारण मानते हैं। इसलिए अपने निर्मल परिणामों द्वारा पूर्वोपार्जित कर्म की निर्जरा, नवीन को निरोध और नया पुण्यार्जन निरंतर करना चाहिए ।[२२३] भवसागर में डूबते प्राणियों को तारने वाला धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई सुदृढ़पोत (जहाज) नहीं है।[२२४] सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग में शुभोपयोग पूर्वक (पुण्य संचय पूर्वक) क्रमशः मोक्ष प्राप्ति होती है ।[२२५] क्रमशः इसलिए भी होती है कि अनंतकाल से पाप कर्म किट्टिमा से संसक्त जीव की विशुद्धता में कुछ समय लगना अपरिहार्य है और वह क्रमशः सीढ़ी दर सीढ़ी आरोहण करता हुआ अपना उज्जवल स्वरूप प्रकट करने की सामर्थ्य प्राप्त कर पाता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि का पुण्य उससे प्राप्त वैभव, सिद्धियाँ, ऋद्धियाँ महत्त्वपूर्ण है और उनके आधार से संसार परिभ्रमण का चक्र टूटता है।[२२६] अलबत्ता इतना जरूर है कि उसकी भावना में निदान की भूमिका न हो। निदान रहित पुण्यभावना और सकल प्रवृत्तियाँ मोक्ष का हेतु बनती है ।[२२७]

---

२२३. वीतरागनिर्विकल्प समाधि रूपा यस्य शुद्धात्मभावना नास्ति तस्य शास्त्र पुराण तपश्चरणानि निरर्थकानि भवन्ति । तर्हि किं सर्वथा निष्फलानि । नैवम् । यदि वीतराग सम्यक्त्व रूपस्वशुद्धात्मोपादेय भावनासहितानि भवन्ति तदा मोक्षस्यैव बहिरंग सहकारि कारणानि भवन्ति तदभावे पुण्यबन्धकारणानि भवन्ति ।- **प.प्र.ता.वृ. १। दो. ९८**

२२४. **भक्तामर स्तोत्र, श्लोक ४४ तथा विनयपाठ** (मंगल नाथूराम यह भवसागर दृढ़ पोत)

२२५. शुभोपयोगस्य सर्वज्ञ व्यवस्थापित वस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचय पूर्व कोऽपुनर्भावोपलम्भः .... । **-प्र. सा. त.प्र. गा. २५६**

यदा पूर्व सूत्र कथित न्यायेन सम्यक्त्व पूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्या पुण्य बन्धो भवति परंपरया निर्वाणं च । नो चेत् पुण्य बंधमात्रमेव ॥ - **प्र.सा.ता.वृ. ३।५५**

२२६. सम्यक्त्वपूर्वक-देवशास्त्रगुरु भक्तया मुख्यवृत्त्या पुण्यमेव भवति च न मोक्षः। अत्राह प्रभाकर भट्टः। यदि पुण्यंमुख्यवृत्त्या मोक्ष कारणं न भवत्युपादेयं च न भवति तर्हि भरतसगर रामपांडवादयोऽपि निरंतर पंचपरमेष्ठिगुणस्मरणदानपूजादिनानिर्भर-भक्ताः सन्तः किमर्थं पुण्योपार्जनं कुर्युरिति। भगवानाह। यथा कोऽपि रामदेवादि पुरुषोविशेषो देशान्तरस्थित सीतादि स्त्री समीपागतानां पुरुषाणां तदर्थं संभाषणदानसन्मानादिकं करोति तथा तेऽपि महापुरुषाः वीतरागपरमानन्दैकरूप मोक्षलक्ष्मी सुख सुधारसपिपासिताः सन्तः। संसार स्थिति विच्छेद कारणं विषय कषायोत्पन्न दुर्ध्यान विनाश हेतुभूतं च परमेष्ठि संबंधि गुणस्मरण दान पूजादिकं कुर्युरिति। -प.प्र. २/६१

२२७. सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होई संसार कारणं णियमा ।
मोक्खस्स होइ हेउं जह वि णियाणं ण सो कुणई ॥ -भा. सं. ४०४

मिथ्यात्व पूर्वक पुण्य हेय :

सम्यग्दृष्टि अनंत सुख प्राप्त करते हैं । जो प्राणी सम्यक्त्व रहित पुण्य क्रिया में संलग्न है वे भी संसार में अल्प सुख पाकर परिभ्रमण की सीमा में निरंतर वृद्धि करते रहते हैं ।[२२८] दोनों की क्रियाफल में बस यही विशेष अंतर हैं । सम्यग्दर्शन सहित मरण श्रेष्ठ है किन्तु विमुख रहकर पुण्य करना योग्य नहीं है ।[२२९] मिथ्यादृष्टि के अहिंसादि व्रताचरण उसे संसारिक अल्पसुखों की प्राप्ति अवश्य कराते हैं परन्तु आरम्भादि की आसक्ति से उसे नरक भी पहुँचाते हैं ।[२३०] क्योंकि इस प्रकार के पुण्य भवभोगों की आकांक्षा से विरक्ति कदापि संभव नहीं हो पाती और रावण आदि जैसे प्राणियों की तरह नरक का पात्र होता है ।[२३१]

पुण्य की निषेधात्मक धारणा का खुलासा :

आज पुण्य के संदर्भ में हेयोपादेयता की गहरी बहस छिड़ी हुई है । केवली भगवंत का साक्षात् सुयोग संभव नहीं है तब कलिकाल की इस गहन तमिस्त्रा में आचार्य भगवंत श्री कुंदकुंद स्वामी से बढ़कर अन्य कोई भी ज्ञानी इस दिशा में उचित मार्गदर्शन या प्रकाश डालने से समर्थ नहीं है । उन्होंने अपने ग्रन्थों में इस प्रश्न का समाधान करते हुए जो उद्गार प्रकट किये हैं आज के मुमुक्षुओं के लिए वे ही ज्ञान नेत्र का कार्य करते हैं ।

समयसार, प्रवचनसार आदि अपने सभी ग्रन्थों में आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी ने कहा हैं कि धर्म से परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोग से युक्त है तो मोक्ष सुख को और यदि शुभोपयोग सहित है तो स्वर्ग सुख को प्राप्त करता

---

२२८. जे णिय दंसण अहिमुहा सोक्खु अणंतु लहंति ।
तिं विणु पुण्णु करंता वि दुक्खु अणंतु सहंति ॥ -प. प्र. अ. २, दो. ५९

२२९. वर णिय - दंसण अहिमुहउ मरणु वि जीव लहेसि ।
मा णिय दंसण विम्मुहउ पुण्णु वि जीव करेसि ॥- प. प्र., अ.२, दो. ५८

२३०. मिथ्यात्व तिमिरावगुंठित ज्ञानलोचनतया विनेय जनराशि रूत्पथ प्रस्थानोऽस कृत्कुगति गर्त पतितो निःसर्तुमभिलषन्नपि असमर्थः क्लिश्यति स च ।
-भग. आ. टी. पृ. १८६ गा. १४५ पं. २-३

मिथ्यादृष्टेर्गुणाः पापानुबंधि स्वल्पमिन्द्रिय सुखं दत्वा बहवारंभ परिग्रहादिषु आसक्तं नरके पातयन्ति इति दोष वहाः । - भग. आ. गा. ५८, टी. पृ. १०१

२३१. निदानबन्धोपार्जित पुण्येन भवान्तरे राज्यादि विभूतौ लब्धायां तु भोगान् त्यक्तुं न शक्नोति तेन पुण्येन नरकादि दुःखं लभते । रावणादिवत् तेन कारणेन् पुण्यानि हेयानीति । -प. प्र. अ २, दो. ५७, पृ. १७९,

है ।[२३२] मोक्षार्थी को तो समस्त कर्म त्यागने की प्रेरणा की है जिसमें सभी इच्छाएं, पुण्य-पाप सभी विकल्पों का समावेश हैं ।[२३३] कर्मों के प्रति सुशील कुशील की धारणा को भी उन्होंने नकारते हुए एकसमान मान्य किया है अर्थात् पुण्य और पाप दोनों समान हैं ।[२३४] दोनों से संसार परिभ्रमण दीर्घ होता हैं ।[२३५] तत्वाभ्यासी निष्णात मुनिजन मुक्ति हेतु सर्व प्रधान प्रशस्त रागादि की धारणा को छोड़ते हैं ।[२३६] रागी कर्मबंध और विरागी मुक्त होता है अतः विरागी को कर्म से प्रीति बढ़ाने का निषेध किया है ।[२३७] लेकिन जब तक यह जीव भेद और उपचार रूप व्यवहार में प्रवर्तता है वर्तता है तब तक वह शुभ अशुभ की भावना से विमुक्त नहीं रह सकता, तब तक वह उनका कर्ता कहलाता है, उससे ही वह संसारी होता है ।[२३८]

निश्चय से दोनों (पुण्य-पाप) संसार बढ़ाने वाले हैं अतः उनमें कोई विशेषता नहीं है, बंधने में लौह और स्वर्ण बेड़ी में कोई अंतर नहीं है तथैव शुभ-अशुभ कर्म जीव को बांधते हैं ।[२३९] फिर भी अज्ञान से ग्रस्त (शुद्धोपयोग से बाह्य) परमार्थ से

---

२३२. देखो संदर्भ, २२५

अकइ यणियाण सम्मो पुण्णं काऊण णाण चरणट्ठो ।
उप्पज्जइ दिवलोए सुह परिणामो सुलेहो वि ॥ -भा.सं. ४०५

पुण्णं पि जो समिच्छदि संसारो तेण ईहिदो होदि ।
पुण्णं सुगई हेदुं पुण्ण खएणेव णिव्वाणं ॥ -का. अ. गा. ४१०

२३३. संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कैव मोक्षार्थिना, संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा । सम्यक्तवादि निज स्वभाव भवनान्मोक्षस्य हेतु र्भवन्, नैष्कर्म्य प्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥ -स. सा. क. १०९

२३४. योऽसौ पुण्यपापद्वयं समानं न मन्यते स निर्मोह शुद्धात्मनो विपरीतेन मोहेन मोहितः सन् संसारे परिभ्रमति इति । अत्राह प्रभाकरभट्टः । तर्हि ये केचन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह । यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षणं त्रिगुप्तिगुप्तवीतराग निर्विकल्पपरमसमाधि लब्ध्या तिष्ठन्ति तदा संमतमेव । यदि पुनस्तथा विधामवस्थामलभमाना अपि सन्तो गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थायां षडावश्यकादिकं च त्यक्तवोभयभ्रष्टाः सन्तः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम् ।- प.प्र.,टी. २/५५

२३५. कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुशीलं जं संसारं पवेसेदि ॥ -स.सा. गा. १४५

२३६. विसय विरत्तो मुञ्चदि विषयासत्तो ण मुञ्चदे जोई । -र. सा., गा. १२५
रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग संपत्तो । -स. सा. गा. १५०

२६७. आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे ।
ण चहदि जाव ममत्तं देहपधाणेसु विसएसु । -प्र. सा. गा. १५०

२३८. जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्य खलु कत्ता ।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥ -स. सा. गा. १०२

२३९. सौवण्णियं वि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥ -स. सा. गा. १४६

बाह्य मोक्ष के हेतु को न जानते हुए उसे (पुण्य) संसारगमक हेतु होने पर भी पुण्य की वाञ्छा करते हैं।[२४०] किन्तु ज्ञानी की प्रवृत्ति इससे विपरीत है वह शुभ-अशुभ, इष्ट-अनिष्ट में राग द्वेष नहीं करता[२४१] वह निश्चय से अपनी आत्मा का लक्ष्य रखता है उसे जानता है अज्ञानी पुण्य-पाप को मोक्ष का हेतु मानकर (साक्षात्) आचरण करता है, चूंकि पुण्य से विभव, विभव से मद, मद से मतिभ्रम होता है इसलिए वीतरागी शुद्धोपयोगियों को पुण्य भी हेय बताया है।[२४२] वह कर्मक्षय का मुख्य कारण कभी नहीं बन सकता, मोक्ष तो पुण्य क्षय से होता है।[२४३] मुमुक्षुओं का प्रयास भी इसी दिशा में होता हैं। ये सभी शुभाशुभ भाव बन्ध हेतुक होने से हेय हैं तथा समस्त उपाधि रहित सहजानंद लक्षण वाले सुखामृत स्वभावी निजात्म द्रव्य में ही रमण करना चाहिए।[२४४] यही ज्ञानी जनों का उपादेय मार्ग हैं।

उपरोक्त कथन का सार यही ध्वनित होता है कि पुण्य की निषेधात्मक धारणा निर्विकल्पक ध्यान की ओर अग्रसर उत्तम भद्र परिणामी तपस्वी जनों के लिए है जो मोक्षमार्ग की ओर तन्मयता से अग्रसर हैं तथा जिनकी अभी उत्तम भूमिका योग्य साधना की स्थिति नहीं है उनके लिए वह अभी भी आचरणीय है ।[२४५] हाँ, उसको

---

२४०. परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णं मिच्छंति ।
संसार गमण हेदुं विमोक्खहेऊँ अजाणंता ॥ -स. सा. गा. १५४

२४१. सुभजोगेण सुभावं पर दव्वे कुणइ रागदो साहू ।
सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ -मो.पा. ५४

२४२. पुण्णेण होई विहवो विहवेण मओ मएण मइ मोहो ।
मइ मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥ -प. प्र. २/६०
पुण्णेण होइ विहओ विहवेण मओ मएण मइ मोहो ।
मइमोहेण य पावं तम्हा पुण्णो वि वज्जेओ । -ति. प. अ.९गा. ५२ पृ. ८७९

२४३. देखो संदर्भ २३९

२४४. अयं परिणामः सर्वोऽपि सोपाधित्वात् बन्धहेतुरिति ज्ञात्वा .... समस्त रागाद्युपाधिरहिते सहजानंदैक लक्षण सुखामृतस्वभावे निजात्मद्रव्ये भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम् । -प्र. सा. ता. वृ. गा. १८०

२४५. यः पुनः सम्यग्दृष्टिरन्तरात्मा स ज्ञानी जीवः स मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रयलक्षण शुद्धोपयोगबलेन निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरूपपरिणामपरिणतिं करोति तदा तेन परिणामेन संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां द्रव्यभावरूपाणां कर्ता भवति। कदाचित्पुनः निर्विकल्पसमाधिपरिणामाभावे सति विषयकषायवंचनार्थ शुद्धात्मभावना साधनार्थम्वा बहिर्बुद्धया ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षानिदानबन्धरहितः सन् शुद्धात्मलक्षणार्हत्सिद्ध शुद्धात्माराधक प्रतिपादकसाधकाचार्योपाध्यायसाधूनां गुणस्मरणादिरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाहुः । यथा कश्चिद्देवदत्तः स्वकीय देशान्तर-स्थितस्त्रीनिमित्तं तत्समीपागतपुरुषाणां सन्मानं करोति, वार्ता पृच्छति, तत्स्त्रीनिमित्तं तेषां स्वीकारं स्नेहदानादिकं च करोति। तथा सम्यग्दृष्टिरपि शुद्धात्मस्वरूपोपलब्धिनिमित्तं शुद्धात्माराधकप्रतिपादकाचार्योपाध्यायसाधूनां दानादिकंच स्वयं शुद्धात्माराधनारहितः सन् करोति । -स.सा.ता.वृ. २/७४

यह जानते हुए सतत बढ़ना है कि यह मोक्षमार्ग का प्रारंभ हेतु तो है किन्तु अंतिम सुदृढ़ हेतु नहीं है अतः योग्य अवस्था आते ही यह भी त्यजनीय है, आचार्य कुंदकुंद स्वामी का ऐसा ही तात्पर्य हैं ।

शुद्धोपयोग :

शुद्धोपयोग की विस्तृत व्याख्या करते हुए आचार्यों ने इसमें विविध दृष्टिकोणों को समायोजित कर प्रकाश डाला है, कहीं ज्ञान की प्रमुखता है तो कहीं रत्नत्रय की। शुद्ध स्वभाव अवलम्बन रूप, समता, भावरूप, अनंत चतुष्टयात्मक भावना रूप इत्यादि । यहाँ इसी भावना को ध्यान में रखकर परिभाषा को सुबोधगम्य शब्दों में प्रस्तुत किया जा रहा है :-

आचार्य कुंदकुंददेव प्रवचनसार में लिखते हैं कि जो पदार्थ और सूत्रों का ज्ञाता है, संयम-तप से युक्त। राग रहित है तथा श्रमण है सुखदुख में समता वान है उसे शुद्धोपयोग होता है।[२४६]प्रवचनसार तात्पर्य वृत्ति में आचार्य भगवंत जयसेन ने कहा हैं कि जो ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान रूप केवलज्ञान में समाहित अनंत गुणात्मक अपनी आत्मा का शुद्ध ध्यान (संकल्प विकल्प जाल रहित) है वह शुद्धोपयोग का लक्षण है।[२४७]निश्चय रत्नत्रय को भी शुद्धोपयोग कहा गया है।[२४८]जीवन-मरण में समता-संयम रूप राग रहित उपयोग[२४९] शुद्धभाव जहां चैतन्य भाव प्रतिभासित हो, शुद्धोपयोग है।[२५०]शुद्धोपयोग में शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव का धारक जो स्वात्मा है-वह ध्येय है, शुद्ध ध्येय शुद्ध अवलम्बन होने से, शुद्धात्म स्वरूप का साधक होने से, इसे शुद्धोपयोग कहा जाता है।[२५१]काल लब्धि वश

---

२४६. सुविदिद पयत्थ सुत्तो संजमतव संजुदो विगदरागो ।
समणे समसुह दुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥ -प्र.सा.गा. १।१४

२४७. ज्ञानेन निर्वृत्त ज्ञानात्मकं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणात्मकं निजात्मानं शुद्धध्यानप्रतिपक्षभूत समस्तमनोरथरूपचिन्ताजालत्यागेन ध्यायामीति शुद्धोपयोग लक्षणं ज्ञातव्यम् । -प्र. सा. ता. वृ. गा. १५९

२४८. निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन परिणतः शुद्धो ज्ञातव्य इति । -प्र. सा., ता.वृ. गा.९

२४९. जीवितमरणादिसमताभावलक्षणपरमोपेक्षासंयमरूपशुद्धोपयोगेन ।-प्र.सा.ता.वृ. १।१७

२५०. नाकृतिर्नाक्षरं वर्णो नो विकल्पश्च कश्चन ।
शुद्धं चैतन्यमेवैकं यत्र तत्साम्यमुच्यते ॥ प. पं.विं. ४/६५

२५१. शुद्धोपयोगेशुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठति तेन कारणेन शुद्ध ध्येयत्वाच्छुद्धाव- लम्बनत्वाच्छुद्धात्म स्वरूप साधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते । -वृ. द्र. सं, टी., पृ. ७७, गा. ३४, पं. ८

भव्यत्व शक्ति का प्रकटीकरण पारिणामिक भाव है और इसी समय परमात्म द्रव्य के प्रति सच्चा श्रद्धान ज्ञान, आचरण पर्याय से परिणत आत्मा शुद्धोपयोगी संज्ञा को प्राप्त होती है। आगम में इस स्थिति को उपशम, क्षय, क्षयोपशम तीन प्रकार से बताया गया है। इसी को अध्यात्म भाषा में शुद्धात्माभिमुख रूप परिणाम को शुद्धोपयोग कहा है ।[२५२]ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय स्वरूप परमात्म द्रव्य की भावना भी शुद्धोपयोग है ।[२५३]इसी अनुभूति से जीव मोक्ष प्राप्त करता है ।[२५४] सप्तम गुणस्थान बनने से पूर्व उपान्त्य गुणस्थान अभिमुख रूप से कहे जाते हैं। इससे १, ४, ५, ६ गुणस्थान अभिमुख गुणस्थान है। इनमें शुद्धोपयोग किंचित् भी नहीं है। किन्तु सप्तम गुणस्थान की प्राप्ति में उक्त गुणस्थानों का पूर्ववर्ती परिणाम शुद्धोपयोग के अभिमुख था किन्तु शुद्धोपयोग नहीं - फिर भी कारण में कार्य का उपचार करने से उसे शुद्धोपयोग कहा जा सकता है।[२५५] उपचरित कथन रूप से। यदि कथन को वास्तविक मान्य किया जाय जो अभिमुख शब्द निरर्थक ठहरेगा। जो कि जिनागम की भावना के प्रतिकूल है। सर्वज्ञ अन्यथा कथन भी नहीं करते।[२५६] पूर्व कथित निश्चय में व्यवहार की भूमिका - अनिवार्यता को यहाँ भी (निश्चय रत्नत्रय में व्यवहार रत्नत्रय) घटित किया जा सकता है। साधन के अभाव में साध्य की सिद्धि नहीं है। अंततोगत्वा इसी मत की सम्पुष्टि होगी कि निश्चय रत्नत्रय से पूर्व वह व्यवहार रत्नत्रय से युक्त था और वह व्यवहार रत्नत्रय मात्र मुनिराजों को ही होता है, गृहस्थों को नहीं, देशव्रती के जो रत्नत्रय है वह एक देश है क्योंकि उन्हें देश चारित्र है, सकल चारित्र नहीं, आचार्यों ने देश संयम को पांच संयमों में समाहित नहीं माना है ।तत्वार्थ सूत्र में भी संयम

---

२५२. तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्व शक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदायं जीवः सहजशुद्धपारिणामिक भावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायेण परिणमति । तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिक क्षायिकं भावत्रयं भण्यते । अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्याय संज्ञां लभते ।

-स.सा. ता.वृ. ९।३२०

२५३. ज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयस्वरूपपरमात्मद्रव्यभावनालक्षणशुद्धोपयोगबलेन प्रक्षीणघाति कर्मा सन् । **-प्र.सा. ता. वृ. गा. १९**

२५४. शुद्धात्मानुभूति सद्भावे तु शुद्धोपयोगेन परिणम्य मोक्षं च करोति ।

-प. प्र., दो. ६८, अ. १, टी. पृ. ६८

२५५. कारण गुणानुविधानं हि कार्य दृष्टं ।**- रा. वा. (अ. स. १/२०) टी. क्र. ३**

२५६. नान्यथावादिनो जिनाः । **- आ. प. श्लो. ५**

परिगणना में इसका समावेश नहीं है। इसका स्पष्ट कारण है कि वह एक देश चारित्र है। अतः व्यवहार रत्नत्रय से संपन्न मुनिराज व्यवहार रत्नत्रय रूप साधन के द्वारा निश्चय रत्नत्रय रूप से परिणमन करते हैं तब उनकी दो अवस्थाएँ होती है । १. स्वस्थानअप्रमत्त (श्रेणी के अनभिमुख) २. सातिशय अप्रमत्त (श्रेणी के अभिमुख)[२५७]

अब यदि हम अभिमुख शब्द को प्राप्ति अर्थ में ग्रहण करें तो शुद्धात्माभिमुख परिणाम ही शुद्धोपयोग है और यह अवस्था अप्रमत्तादि मुनिराजों को ही प्राप्त होती है, अन्य किसी को नहीं और न गृहस्थों को ।

अभिमुख शब्द का खुलासा :

आचार्य श्री जयसेनाचार्य जी ने समयसार तात्पर्य वृत्ति में निज शुद्धात्म द्रव्य के सम्यक्श्रद्धान ज्ञान आचरण रूप पर्याय से परिणत जीवात्मा के इस परिणमन को आगम भाषा में औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक त्रिविध रूप कहा है तथा अध्यात्म भाषा में शुद्धात्मा के अभिमुख होने वाला परिणाम शुद्धोपयोग है । आचार्य ने अभिमुख और परिणाम को एक कहकर शुद्धोपयोग की संज्ञा दी है,[२५८] अब यहाँ मुख्य रूप से यह विचारणीय है कि जो निश्चय रत्नत्रय रूप पर्याय से परिणमित है वह पूर्व में क्या व्यवहार रत्नत्रय से परिणमित हो चुका था ? क्योंकि व्यवहार के बिना निश्चय नहीं होता (हेतु नियत का होई - दौलत राम) यह एक सामान्य नियम हैं । व्यवहार साधन है, कारण है, हेतु है, निमित्त है [२५९] और निश्चय साध्य है, कार्य है, जन्य है, उपादान है, कार्य सर्वत्र कारण पूर्वक होता है ।[२६०] यद्यपि निमित्त कारण, कारण ही रहता है, कार्य नहीं और कार्य, कार्य रहता है कारण नहीं - फिर भी, कहीं - कहीं कारण में कार्य का उपचार किया जाता है ।[२६१] यथाः - शुद्धोपयोग का प्रारंभ सप्तम अप्रमत गुणस्थान से होता है

---

२५७. स्वस्थानाप्रमत्तः सतिशया-प्रमत्तश्चेति द्वौभेदौ।- **गो.जी./जी.प्र./४५/९७/८**

२५८. **देखो, संदर्भ २५२**

२५९. निश्चय रत्नत्रय स्वरूपं तत्साधकं व्यवहार रत्नत्रय रूपं चेति -वृ.द्र.सं.अं. २, पृ. ६६

२६०. साधन करणं। -स. सि. १।२१

साधनं करणं -रा. वा. १।१७

निश्चयरत्नत्रयं भावनाबलेन तत्साधक व्यवहार रत्नत्रय भावनाबलेन सव्वत्थ कारणाणुसारिकंज्जुबलंभादो। ध.पु. १०।४, २ ।

ण च कारणेण विणा कज्ज मुप्पज्जदि अइप्पसंगादो ।-ध.पु. १२।४,२, १३, १७

कारणे कज्जुवयारादो । -ध.पु. ३।४, २, ६, २३३

२६१. **देखो, संदर्भ १०, ११**

परंतु इस गुणस्थान की प्राप्ति १, ४, ५, ६ गुणस्थान से संभव है । मिथ्यादृष्टि मुनि जिनने (द्रव्यलिंगी) मिथ्यात्व गलन के पूर्व दीक्षा ली । वे जब दर्शन मोहनीय (३ प्रकृतियाँ) चारित्र मोहनीय (१२ प्रकृतियाँ) प्रकृतियों का अन्य प्रकृतियों के साथ यथायोग्य उपशम या क्षायोपशमिक विधि करते हैं तब उनके प्रथम गुणस्थान से सीधा सप्तम गुणस्थान बनता हैं ।

इसी प्रकार चतुर्थ पंचम गुणस्थानवर्ती दीक्षा काल में चारित्र मोहनीय की ८ या ४ प्रकृतियों का उपशम, क्षयोपशम करता है तब सप्तम गुणस्थान होता है । छट्ठे से सप्तम गुणस्थान निरंतर बनता ही रहता है क्योंकि संज्वलन का काल अन्तर्मुहूर्त है जिससे वे मुनिजन झूला की तरह निरंतर छठे से सप्तम और सप्तम से छठे गुणस्थान में झूलते रहते हैं । काल सीमा इतनी ही है ।

गुणस्थानों में उपयोग :

संयम मार्ग पर अग्रसर होकर भव्य प्राणी कर्मबन्धन से मुक्त होने का प्रयास करता है और उसके इस प्रयास का परिणाम किस स्तर पर है इसका माप गुणस्थान के माध्यम से ज्ञात होता है । इस दृष्टि से प्रारंभ के तीन गुणस्थान (मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र) अशुभोपयोग की प्रधान भूमिका वाले होने से कल्याण मार्ग पर अग्रसर करने में प्रभावी नहीं है । हालाकी इनमें क्रमशः घटता हुआ अशुभोपयोग होता है तथा अग्रिम तीन गुणस्थानों में (४-५-६) वृद्धिङ्गत शुभोपयोग होता है । शुद्धोपयोग की वास्तविक स्थिति अप्रमत्त संयत गुणस्थान से लेकर क्षीण मोह गुणस्थान (७-१२) तक वृद्धिङ्गत होती जाती है । इन गुणस्थानों में क्रमशः जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट के भेद से युक्त एकदेश शुद्ध नय स्वरूप शुद्धोपयोग होता है ।[२६२] यहाँ इसी चर्चा को कुछ विस्तार के साथ पाठकों को सुबोध गम्य बनाने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया जा रहा है :-

१. प्रथम गुणस्थान मिथ्यात्व में शुभाशुभ उपयोग :

प्रथम गुणस्थान में मिथ्यात्व का तीव्र उदय रहता है जिससे दृष्टि और चर्या में परमार्थ की शून्यता रहती है अर्थात् अशुभोपयोग की प्रधानता होती है फिर भी उसके किंचित् शुभोपयोग की संभावना है, जैसा कि आचार्य श्री जयसेनाचार्य जी (समयसार तात्पर्य वृत्ति ७४) लिखते हैं :-

---

२६२. मिथ्यात्व सासादन मिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोगः तदनन्तरमसंयतसम्यग्दृष्टि देशविरत प्रमतसंयत गुणस्थानत्रयेतारतम्येन शुभोपयोगः तदनन्तरमप्रमत्तादि क्षीणकषायान्त गुणस्थान षट्के तारतम्येन शुद्धोपयोगः .... । **-प्र. सा. ता.वृ. गा. ९**

जीव को कथंचित् परिणामी स्वीकार करने पर अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव विषय कषाय रूप अशुभोपयोग जन्य परिणामों को करता है ।[२६३] कदाचित् पुनः एक स्वभाव वाले शुद्धात्मा को छोड़कर भोगाकांक्षादि निदान रूप शुभोपयोग परिणामों को करता है । यह बात स्पष्ट है कि मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग मोक्ष का कारण नहीं, मात्र पुण्य बन्ध का कारण है जबकि सम्यग्दृष्टि का वही उपयोग पुण्य के साथ-साथ परंपरा से मोक्ष का भी कारण है यथा : - शुभ रूप राग भाव अर्थात् शुभोपयोग पुरुष के भेद कर विपरीत कार्य को फलता है । उदाहरणार्थ - कृषि काल में खोटी भूमि में बोये गये नाना प्रकार के धान्य बीज विपरीत परिणाम देते हैं (उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य भूमि के अनुसार) तथैव शुभोपयोग पात्रभूत वस्तु विशेष के आश्रय से भिन्न-भिन्न फल देते है ।[२६४] यदि कोई यहां आशंका करे कि इससे क्या सिद्ध हुआ तो आचार्य समाधान करते हुए कहते हैं पूर्व सूत्र में कथित न्याय से जब सम्यक् पूर्वक शुभोपयोग होता है तो पुण्यबंध तथा परंपरा से निर्वाण लाभ होता है मात्र पुण्यबंध नहीं, मिथ्यादृष्टि को मात्र पुण्यबंध होगा । उसके आर्त्तरौद्रादि ध्यान की सर्वाधिकता है । इसीलिए आचार्य श्री जयसेन आदि प्रमुख ज्ञानियों ने गुणस्थान १-३ तक घटता हुआ अशुभोपयोग मान्य किया है ।

प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में एक मात्र अशुभोपयोग पाया जाता है । यहाँ सर्वघाती स्वरूप मिथ्यात्व एवं अनंतानुबंधी चतुष्क का तीव्र उदय रहता है जिससे निर्वाण हेतुक शुभोपयोग की संभावना किंचित् भी नहीं है । फिर भी उक्त प्रकृत्तियों की मंदोदय अवस्था में मिथ्यादृष्टि जीव के भोगाकांक्षारूप निदान विषयक क्रियाएँ देखी जाती है । अतः उसकी दान, पूजा आदि पुण्य क्रियाओं को देख उसे भी विवक्षावश शुभोपयोग कहा है, पर वह निर्वाण मूलक नहीं है ।

द्वितीय सासादन गुणस्थान में प्रथम की अपेक्षा कुछ न्यून अशुभोपयोग रूप प्रवृत्ति है । मिथ्यात्व का साक्षात् उदयाभाव होने से । किन्तु मिथ्यात्वोन्मुखता (अन्तर्मुहूर्त पश्चात्) की स्थिति अवश्य है । इसी आशय की अभिव्यक्ति आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी ने अपने ग्रन्थों में की हैं । प्रवचनसार (गाथा ३/५५) में स्पष्ट रूप से इस गुणस्थान में

---

२६३. तत्रैवं कथंचित् परिणामित्वे सति अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिर्जीवो विषयकषायरूपा शुभोपयोग परिणामं करोति । कदाचित् पुनश्चिदानंदैकस्वभावं शुद्धात्मानं त्यक्त्वा भोगाकांक्षानिदानस्वरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति ।
-स.सा. ता.वृ.गा. ७४ (कर्ता कर्म अधिकार) टी.

२६४. प्र. सा./अ. ३/गा. ५५

मुक्ति हेतुक शुभोपयोग का निषेध किया गया है । अलबत्ता प्रथम गुणस्थान की अपेक्षा यहाँ कुछ उज्जवल परिणाम है ।

तृतीय मिश्र गुणस्थान में मिश्रित परिणाम (मिथ्यात्व - सम्यक्त्व) होने[२६५] से सम्यग् मिथ्यात्व = दर्शनमोहनीय की प्रकृति का उदय है । मिथ्यात्व का - अनंतानुबंधी चतुष्क में से किसी का भी साक्षात् उदय नहीं है । फिर भी क्रमिक ह्रास पूर्वक अशुभोपयोग निरंतर बना रहता है । यहाँ भी परंपरा से निर्वाण हेतुक किंचित् शुभोपयोग नहीं है । उपरोक्त कथ्य का निष्कर्ष यह है कि इस स्थिति में प्राप्त अशुभोपयोग क्रमशः उत्कृष्ट मध्यम जघन्य रूप से हो सकता है ।

असंयत से प्रमत्त संयत गुणस्थान में निर्वाण हेतुक शुभोपयोग :

गुणस्थान ४-६ (असंयत सम्यग्दृष्टि, देशसंयत तथा प्रमत्त संयत) में तारतम्य से क्रमशः वृद्धिङ्गत शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग पाया जाता है ।[२६६] जिसे हम इन गुणस्थानों में क्रमशः जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद के रूप में स्थापित कर व्याख्या कर सकते हैं, मोक्ष का कारणभूत सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से प्रारंभ होता है । यहाँ ज्ञान, वैराग्यशक्ति[२६७], विशुद्धि आदि निरंतर बनी रहती है तथा ४१ कर्म प्रकृतियों का संवर भी रहता है[२६८] अतः शुभोपयोग भी निरंतर रहता है । योगों में शुभाशुभता भी बनी रहती है जिससे लेश्या, ध्यान, प्रवृत्ति में अंतर रहता है और आस्त्रव-बंध-संवर की प्रक्रिया भी प्रभावित होती रहती है, फिर भी परिणति रूप दृष्टि (ज्ञान, वैराग्य रूप शक्ति) आत्महित मोक्ष की ओर रहती है ! चारित्र मोहोदय वश चारित्र का धारण लेश मात्र नहीं है परंतु सदाचरण रूप प्रवृत्ति है, अतः जघन्य रूप से शुभोपयोग ही है । सराग सम्यग्दर्शन के साथ इसकी अन्यथानुपत्ति है,[२६९] हाँ। वीतराग सम्यग्दर्शन नहीं हैं, क्योंकि विषय कषाय वश होने वाले आर्त्तरौद्रादि ध्यान गृहस्थों को होते है । अतः आत्मा के आश्रय से होने वाला निश्चय धर्म ध्यान नहीं होता है ।[२७०]

---

२६५. गो.जी./गा. २२

२६६. देखो संदर्भ २५२ द्र. सं. टी. ३४

२६७. स.सा.कं. १३६

२६८. स.सा./ता.वृ. २०१-२०२

२६९. स.सा./ता.वृ. १७७-१७८

२७०. प्र.सा./ता.वृ. ३/५४

पंचम संयमासंयम गुणस्थान में देशसंयम और असंयम की युगपत् प्रवृत्ति है । यहाँ संकल्पपूर्वक (एकदेश) स्थूल रूप से पापाचरण से विरक्ति है, सूक्ष्मरूप से नहीं । अतः इस गुणस्थान का यह सार्थक नाम है । यहाँ चतुर्थगुणस्थान की अपेक्षा शुभोपयोग वृद्धि रूप है जो इसकी मध्यम स्थिति का ज्ञापक है तथा सम्यक्त्व की दृष्टि से सराग सम्यक्त्व है । शुद्धोपयोगात्मक वीतरागी सम्यक्त्व किंचित् भी नहीं है । हाँ, इतना अवश्य है कि कभी-कभी श्रावकों को सामायिक आदि के समय शुद्धोपयोग की शुद्ध भावना पायी जाती है, पर वह शुभोपयोग रूप है, शुद्धोपयोग रूप नहीं । पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में कहा भी है - यद्यपि अनुमान रूप परोक्ष ज्ञान के द्वारा जैसे धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान किया जाता है तथैव शुद्धात्मा जानी जाती है । फिर भी रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा उत्पन्न परमानंद रूप अनाकुलतात्मक वास्तविक सुखामृत से परिपूर्ण कलश के समान सभी प्रदेशों में आनंद से भरे हुए परमयोगियों को जैसे शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है वैसा प्रत्यक्ष इतरजनों (गृहस्थों को) को नहीं होता ।[२७१]

शुद्धोपयोग श्रावकों को नहीं :-

श्रावक शब्द में तीन अक्षर है श्र, व और क । ये तीनों अक्षर सांकेतिक हैं पूर्ण इस प्रकार है - यथा:- श्र = श्रद्धावान, व = विवेकवान, क = क्रियावान्, इसका सीधा अर्थ है जो श्रद्धावान, विवेकवान् तथा क्रियावान् होता है वही श्रावक है । यह संज्ञा गुणस्थान ४-५ में स्थित भव्यात्माओं को प्राप्त हैं । समवशरण मंडप में व्रती अव्रती दोनों उपदेश श्रवण करते हैं । इस दृष्टि से अव्रती को भी श्रावक संज्ञा प्राप्त होती है तथा उन्हें शुभोपयोग की पात्रता है (शुद्धोपयोग की नहीं) तथा शुभोपयोग के रहते योग शुभ-अशुभ दोनों संभव है । प्रशस्त-अप्रशस्त, ध्यान, लेश्यायें, क्रियाएँ होती रहती है । जब प्रशस्त भाव होते हैं तब सभी क्रियाएँ ध्यान योग आदि परपंपरा से मुक्ति के कारणभूत पुण्यास्त्रव का बंध कराती है । इन सब प्रवृत्तियों से वह भव्य अशुभोपयोग से स्वयं को बचा लेता है क्योंकि उस भूमिका में कृष्णादि अशुभलेश्याएँ, आर्त्तरौद्रादि ध्यान होने से पापास्त्रव के कारण भूत तथा अधोगामी दीर्घ संसार परिभ्रमण का मार्ग सुलभ होता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि शुभोपयोग के होते हुए भी योग शुभ (पुण्य) अशुभ (पाप) दोनों संभव है, इस गुणस्थान में शुभोपयोग दृष्टि की प्रधानता है। जैसा गोम्मटसार में

---

२७१. यद्यप्यनुमानेन लक्षणेन परोक्ष ज्ञानेन व्यवहारनयेन धूमाग्निवद शुद्धात्मा ज्ञायते तथापि रागादि विकल्परहितस्वसंवेदनज्ञान समुत्पन्नपरमानंदरूपानाकुलत्वसुस्थित-वास्तवसुखामृतजलेन पूर्णकलशवत्सर्वप्रदेशेषु भरितावस्थानां परमयोगिनां यथा शुद्धात्मा प्रत्यक्षो भवति तथेतराणां न भवतीत्यलिंगग्रहणः।

पं.का. ता.वृ.गा. १२७,

सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचन्द जी ने कहा हैं कि ये सभी १-४ गुणस्थान दर्शन प्रधान हैं। यहाँ चारित्र नहीं है। क्योंकि अविरतों से युक्त ये गुणस्थान[२७२] विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावात्मक परमात्म पदार्थ की भावना के प्रतिपक्षभूत जो कषाय और इन्द्रियाँ हैं उनसे गृहस्थों का मन सदा व्याकुल रहता है। अतः मानसिक विशुद्धि के अभाव में वे तपस्वियों के समान शुद्धात्म भावना में समर्थ नहीं होते[२७३] क्योंकि तीर्थङ्कर भी (गर्भ, जन्म, दीक्षा) तीन कल्याणक के पश्चात् ही अभेद रत्नत्रय रूप शुद्धोपयोग में लीन होकर अर्हत् सिद्ध पद को प्राप्त करते हैं।[२७४] इस मर्म को खुलासा करते हुए प्रवचन सार तात्पर्य वृत्ति में आचार्य श्री जयसेन कहते हैं कि जो पहले गृहस्थावस्था में नाना तरह के गृह व्यापार करते थे, पश्चात् दीक्षा ग्रहण की, वे रामादि केवली पुरुष निश्चय रत्नत्रयात्मक परमात्म ध्यान के द्वारा अनंत सुख रूपी अमृत से तृप्त हुए थे,[२७५] दूसरे नहीं। इससे स्पष्ट है कि विषय कषायाश्रित गृहस्थों को आत्माश्रित निश्चय धर्मध्यान के लिए अवकाश नहीं।[२७६]श्री पद्मप्रभमलधारी देव ने भी राम, पांडव, भरत, सगर आदि का उदाहरण देकर लिखा हैं कि इन महान पुरुषों ने पहले जिन दीक्षा लेकर फिर द्वादशांग को पढ़कर तथा उसके फल से वे निश्चय रत्नत्रय

---

२७२. गो.सा./जी./गा.१२

२७३. विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव परमात्म पदार्थ भावना प्रतिपक्ष भूतैः कषायेन्द्रियैः व्याकुलीक्रियते मनः, मनः शुद्धयभावे गृहस्थानां तपोधनवत् शुद्धात्म भावना कुर्तुं नायातीति । तथा चोक्तम् - कषायैरिन्द्रियैर्दुष्टैर्व्याकुली क्रियते मनः ।
यतः कर्तुं न शक्येत भावना गृहमेधिभिः ॥

- प. प्र., अ. २, दो. १४४, टी. पृ. २६०, पं. १२-१५

२७४. राजाधिराजार्द्धमाण्डलिक महामाण्डलिक बलदेव वासुदेवकामदेव सकल चक्रवर्ति देवेन्द्र गणधर देव तीर्थंकर परम देव प्रथम कल्याणत्रय पर्यन्तं विविधाभ्युदय सुखं प्राप्य पश्चादभेद रत्नत्रयभावनाबलेनाक्षयानन्त सुखादि गुणास्पदमर्हत्पदं सिद्धपदं च लभते इति ।

-वृ. द्र. सं. २।३५ पृ. ११५

२७५. य एव पूर्व गृहस्थावस्थायामेवं गृहव्यापारं कृतवान् पश्चाज्जिनदीक्षां गृहीत्वा स एवेदानीं रामादि केवली पुरुषो निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमात्मध्यानेनानन्तसुखामृततृप्तो जातः, न चान्य इति । -प्र. सा. ता. वृ. २।१९

२७६. निर्विकारचिच्चमत्कारभावना प्रतिपक्षभूतेन विषय कषाय निमित्तोत्पन्नेनार्त्तरौद्रध्यान द्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्माश्रित निश्चय धर्मस्यावकाशो नास्ति ।

-प्र.सा.ता.वृ. ३।५४

स्वरूप शुद्ध परमात्मा के ध्यान में लीन हुए थे ।[२७७] उनका उपयोग सदैव सविकल्पक[२७८] है मोह, क्षोभ से रहित निर्मोह और निःक्षोभ गुणों से विशिष्ट आत्मा शुद्ध, बुद्ध, एक स्वरूप चिच्चमत्कार लक्षण रूप चिदानंद परिणाम वाला कहा जाता है और वह परिणाम पंच सूनाकर्म में लिप्त गृहस्थों को आत्माश्रित निश्चय धर्मध्यान नहीं होता है ।[२७९] जैसे आकाश कुसुम, खर विषाण का होना संभव नहीं है, फिर भी, उनकी यदि किसी देश काल में सिद्धि संभव भले हो जाय परंतु गृहस्थ को निश्चय धर्मध्यान की सिद्धि संभव नहीं है ।[२८०] और न निश्चय रत्नत्रय लक्षण शुद्धोपयोग रूप परमधर्म की प्राप्ति का अवसर है ।[२८१] जो गृहस्थ ऐसा मानने से इंकार करता है वह आकाश कुसुम से वन्ध्यापुत्र के लिए मुकुट बनाने का निरर्थक प्रयास करता है ।[२८२]

---

२७७. वीतराग सम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानु भूतिलक्षणं वीतराग चारित्राविनाभूतं तदेव निश्चयसम्यक्त्वमिति । अत्राह प्रभाकर भट्टः । निज शुद्धात्मैवोपादेय इति रूचिरूपं निश्चय सम्यक्त्वं भवतीति बहुधा व्याख्यातं पूर्व भवद्भिः इदानीं पुनः वीतराग चारित्राविनाभूतं निश्चय सम्यक्त्वं व्याख्यातमिति पूर्वापरविरोधः कस्मादिति चेत् । निज शुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं निश्चय सम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां तीर्थंकर परमदेव भरतसगर रामपाण्डवादीनां विद्यते, न च तेषां वीतराग चारित्रमस्तीति परस्परविरोधः अस्ति चेत्तर्हि तेषामसंयतत्त्वं कथमिति पूर्वपक्षः । तत्र परिहारमाह । तेषां शुद्धात्मोपादेय भावनारूपं निश्चय सम्यक्त्वं विद्यते परं किन्तु चारित्र मोहोदयेन स्थिरता नास्ति व्रतप्रतिज्ञाभंगो भवतीति तेन कारणेनासंयता वा भण्यन्ते । शुद्धात्मभावना च्युताः सन्तः भरतादयो निर्दोषिपरमात्मनामर्हत्सिद्धानां गुणस्तववस्तुस्तव रूपस्तवनादिकं कुर्वन्ति तच्चरितपुराणादिकं च समाकर्णयन्ति तदाराधकपुरुषाणामाचार्योपाध्यायसाधूनां विषयकषायदुर्ध्यानवंचनार्थं संसारस्थितिच्छेदनार्थं च दानपूजादिकं कुर्वन्ति तेन कारणेन शुभरागयोगात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति । या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्व संज्ञा वीतराग चारित्राविनाभूतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परंपरया साधकत्वादिति। वस्तुवृत्या तु तत्सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वाख्यं व्यवहारसम्यक्त्वमेवेति भावार्थः। - **प.प्र.ता.वृ. २।१७**

देखो संदर्भ २६५

२७८. साकार सविकल्पो गृहस्थः । - **प्र.सा.ता.वृ. २।१०२**

२७९. कंडली पीसणी उदकुंभं पमज्जणी -**मूला. ९२८**

२८०. ख पुष्प मथवा श्रृंग खरस्यापि प्रतीयते ।
न पुनर्देश कालेऽपि ध्यान सिद्धि गृहाश्रमे ॥ - **ज्ञा. ४।१७**

२८१. विषय कषाय निमित्तोत्पन्नार्त्तरौद्र द्वयेन परिणतानां गृहस्थानामात्माश्रित-निश्चयधर्मास्यावकाशो नास्ति । -**प्र.सा.ता.वृ. ३।५४**

२८२. रत्नत्रय मनासाद्य यः साक्षाद्ध्यातु मिच्छति ।
ख पुष्पैः कुरुते मूढ़ सबन्ध्यासुत शेखरम् ॥ -**ज्ञा. ६।४**

उपरोक्त कथन के संदर्भ में यह सुनिश्चित है कि जब तक ग्रन्थ (परिग्रह) का त्याग नहीं किया जाता तब तक (आत्मा) चित्त की मलीनता को दूर नहीं किया जा सकता ।

इसलिए बाह्य--आभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग करने वाले क्षपकों का चित्त निर्मल होता है ।[२८३] वे ही कर्मों की निर्जरा - क्षपणा में समर्थ हैं । रागी द्वेषी गृहस्थ नहीं, जब तक उपशम भाव नहीं, तब तक आत्म ध्यान में स्थिरता शक्य नहीं है ।[२८४] वैराग्य, तत्त्वज्ञान, निर्ग्रन्थता, मन का नियंत्रण और परीषह जय इन पांच कारणों को आगम ग्रन्थों में उत्तम ध्यान के लिए मुख्य बताया है ।[२८५] जो कि गृहस्थों के पूर्णतः कभी संभव नहीं है ।

निरालंब ध्यान के निषेधात्मक कारणों का खुलासा :-

आगमिक अभिप्राय से अपरिचित कतिपय गृहस्थ इस भ्रम में हैं कि उनके निरालम्ब और शुद्ध ध्यान संभव है।[२८६] दृष्टिवाद अंग में ध्यान के गुणस्थान कहे हैं उसमें देशव्रती को मुख्य (निश्चय) धर्मध्यान का निषेध है।[२८७] क्योंकि वे सदैव बाह्याभ्यंतर परिग्रह से लिप्त हैं तथा आरंभ भी अनेक विध है,[२८८] तब वह शुद्धात्मा का ध्यान कैसे कर सकता है? ध्यानस्थ मुद्रा में यदि वह बैठ जाय तो उसे वे सभी आरंभ व्यापार उस स्थिति में भी झलकते रहते हैं।[२८९] अब भी यदि कोई गृहस्थ शुद्ध ध्यान की बात करे तो उसका कथन मेढ़की के टर्राने जैसा है अथवा

---

२८३. जाम ण गंथं छंडइ ताम ण चित्तस्य मलिणिमा मुंचइ ।
दुविह परिग्गहचाए णिम्मलाचित्तो हवइ खवओ ॥ - आ. सा. ३२

२८४. संगच्चाएण फुडंजीवो परिणवई उवसमो परमो ।
उवसमगओ हु जीवो अप्पसरुवे थिरो हवई ॥ - आ. सा. ३१

२८५. वैराग्यं तत्व विज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता ।
परीषह जयश्चेति पञ्चैतेध्यान हेतवः ॥ -क्ष.चू. (प.प्र. २।१९२)

२८६. जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं ।
सुद्धं च णिरालंव ए मुणइ सो आयमो जइणो ॥ -भा.सं. ३८२

२८७. कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाण जाणि झाणाणि ।
तम्हा स देस विरओ मुक्खं धम्मं ण झाएई ॥ -भा.सं. ३८३

२८८. किं जं सो गिहवंतो वहिरंतरगंथ परमिओ णिच्चं ।
वहुआरंभ पउत्तो कह झायइ सुद्ध मप्पाणं ॥ -भा. सं. ३८४

२८९. घर वावारा केई करणीया अत्थि ते ण ते सव्वे ।
झाणट्ठियस्य पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स ॥ -भा.सं.३८५

ढेकी (मूसली के धान्य कूटने का) के परिश्रम जैसा निरर्थक है । तथैव निरावलंबी ध्यान की चेष्टा परिश्रम मात्र है ।[२९०] उससे लाभ किंचित् भी नहीं हो सकता । उसे सविकल्प रूप अनेक ध्यानों की संतान प्राप्त होती है और वही उसके पायी जाती है ।[२९१] अत: आलम्बन सहित पंच परमेष्ठी का ध्यान करना उसके लिए इष्ट है । यही उसकी उचित मर्यादा है ।[२९२] धूमाग्निवत् परोक्ष ज्ञान से यद्यपि आत्मा (शुद्धात्मा) जानी जाती है । गुरू, उपदेश, शास्त्रादि के पठन-पाठन से भी उसका ज्ञान होता है फिर भी रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा उत्पन्न परमानंद रूप अनाकुलात्मक वास्तविक सुखामृत से परिपूर्ण, कलश के समान सभी प्रदेशों में आनंद से भरे हुए योगियों को जैसा प्रत्यक्ष शुद्धात्मा का होता है वैसा इतरजनों को नहीं होता ।[२९३]

जो भव्य जिन मुद्रा धारण कर अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त होता है उसे ही यह निरावलंब शुद्धोपयोग रूप ध्यान होता है ।[२९४] **(भावसंग्रह ३८१)** आराधना सार में इसी की सम्पुष्टि करते हुए क्षेत्रादि बाह्य, मिथ्यात्वादि अंतरंग परिग्रह का त्याग कर निरालंब ध्यान का निर्देश किया गया है ।[२९५] **(आ.सा. ३२)** जो सातवें गुणस्थान में संभव है । देशविरत और प्रमत्तविरत को यह मात्र उपचार से है[२९६] अत: आगम सम्मत मार्ग ज्ञानी जनों के लिए ग्राह्य है और वह जिनलिंगधारी अप्रमत गुणस्थानवर्ती मुनिजन ही निरावलंब शुद्धोपयोग रूप ध्यान के पात्र हैं, अन्य इतर गृहस्थ जन नहीं, और न प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनिजन ही इसके पात्र हैं ।[२९७]

---

२९०. अह ढिंकुलियां झाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी ।
सोवंतो झायव्वं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि ॥ -भा.सं. ३८६

२९१. झाणाणं संताणं अहवा जाएइ तस्स झाणस्स ।
आलंवण रहियस्स य ण ठाइ चित्तं थिरं जम्हा ॥ -भा.सं.३८७

२९२. तम्हा सा सालंवं झायउ झाणं पि गिरवई णिच्चं ।
पंच परमेट्ठिरूवं अहवा मंतक्खरं तेसिं ॥ -भा. सं. ३८८

२९३. पं. का. / ता. वृ. १२७

२९४. भा. स. ३८१

२९५. आ. सा. ३२

२९६. मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमाय विरहिए ठाणे ।
देसविरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं । - भा. सं. ३७१

२९७. जं पुणु वि निरालंवं तं झाणं गयपमाय गुणठाणे ।
चत्तगेहस्स जायइ धरियं जिणलिंग रूवस्स ॥ -भा.सं. ३८१

प्रमत्तविरत गुणस्थान :

सकल संयम की साक्षात् स्थिति को दिग्दर्शन कराने वाला प्रमत्तविरत छठा गुणस्थान है तथा यह जिनमुद्राधारी मुनिजनों को ही होता है,[२९८] अव्रती या गृहस्थों को नहीं होता। जिन संयमियों ने तीन दर्शन मोहनीय की तथा बारह चारित्र मोहनीय की कुल पंद्रह कर्मप्रकृतियों का क्षयोपशमादि कर समस्त बाह्याभ्यंतर परिग्रह का त्याग कर अट्ठाईस मूलगुणों को धारण किया है उन्हीं के यह छठा प्रमत्त विरत गुणस्थान होता है । इस गुणस्थान में सम्यग्दर्शन सहित सकल संयम रहता है तथा बुद्धिपूर्वक धर्म विषयक राग रहने से इसे सराग संयम, सराग सम्यग्दृष्टि भी कहते हैं क्योंकि सराग के साथ (सम्यक्त्व) इसकी अन्यथानुपत्ति है ।[२९९] यहां तक सराग सम्यक्त्व के साथ इसकी उत्पत्ति है, वीतराग सम्यक्त्व के साथ नहीं । इस गुणस्थान में शुभोपयोग की प्रधानता है, अशुभोपयोग या शुद्धोपयोग नहीं पाया जाता है ।

यहाँ विशेष रूप से एक बात दृष्टव्य है कि इस गुणस्थान में तीन आर्त्तध्यान इष्टानिष्ट वियोग संयोग, पीड़ाचिंतन की भावना का अभाव नहीं है,[३००] यथासमय इनकी जाग्रति है फिर भी, इसे अशुभोपयोग की सीमा में नहीं लिया जा सकता । ऐसा इसलिए भी कि यहाँ अशुभ और और शुद्ध दोनों उपयोगों का अभाव आगम में वर्णित है ।

कतिपय विद्वानों की धारणा है कि मुनिराज जिस समय अपनी समस्त क्रियाएँ पूर्ण सावधानी के साथ निर्दोष रीति से सम्पादन करते हैं तब उनकी अवस्था अप्रमत्त होना चाहिए । परंतु ऐसा कथन आगम की भावना के विपरीत है । प्रथम तो यह कि ऐसा मानने पर यह गुणस्थान सदोषात्मक क्रियाओं वाला ठहरेगा । दूसरा यह कि इसका काल अन्तर्मुहूर्त है (सप्तम से दुगना) और निरतिचार क्रियाओं का काल इससे अधिक ठहरता है यथा: द्वितीय तीर्थङ्कर से लेकर तेईसवें तीर्थङ्कर के कालवर्ती शिष्य प्रतिक्रमणादि सभी दण्डकों सहित हमेशा नहीं करते अपितु उनके व्रतादि में जब दोष लगते तब दोषों का प्रतिक्रमणादि करते थे,[३०१] तथा छठा गुणस्थान बुद्धिपूर्वक क्रिया वाला है । जिसमें सर्वत्र सावधानी पूर्वक क्रियाएँ सम्पादित होती है ।

---

२९८. गो.जी.गा. ३२, ३३

२९९. स.सा./प्रा.कृ. १७७-१७८

३००. त.सू. ९/३४

३०१. मूला. ६२८-६३०

कदाचित् दोषादि की स्थिति बनती हैं तो उसके निवारणार्थ निंदा, गर्हा, आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित आदि से शुद्धि करण क्रिया की जाती है जो इस छठा गुणस्थान सदोष/निर्दोष, सातिचार/निरतिचार रूप क्रियात्मक है । ऐसा न मानने पर यह स्थान असावधानी परक ठहरेगा, परिणामत: चतुर्थकालवर्ती सभी परिहार विशुद्धि संयमधारी मुनिजन, मन:पर्ययज्ञानधारी, ऋद्धिधारी, गणधरदेव आदि सभी छठे गुणस्थानवर्ती सदोषी, सातिचारी ठहरेंगे, इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस गुणस्थान में निर्दोष आहारादि क्रियाएँ भी नहीं बन सकेगी ।

सप्तम गुणस्थान स्थिरात्मक है, निष्क्रियात्मक तथा ध्यानात्मक है जैसा कि गोम्मटसार जीवकांड में कहा है - **झाणणिलोणो हु अपमत्तो** ।[३०२] यहाँ किसी प्रकार की प्रवृत्ति संभव नहीं है । यदि कहा जाय कि यहाँ (स्वस्थानाप्रमत्तगुणस्थान में) समिति आदि के पालन करने में किंचित् भी प्रमाद नहीं पाया जाता, निर्दोष प्रवृत्ति होती है, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मान्य करने पर छट्ठे गुणस्थान में निर्दोष (परिपूर्ण) समितियों के अभाव का प्रसंग आता है तथा समितियों के बिना २८ मूलगुणों का पालन संभव नहीं है । फिर मूलगुणों से रहित छट्ठे गुणस्थान का अर्थ ही क्या रहा । यदि आशंका की जाए कि छट्ठे गुणस्थानवर्ती, पुलाक, वकुश, निर्ग्रन्थ, मुनिराज के भी मूलगुणों में दोष लगते हैं,[३०३] सो ऐसा भी कथन ठीक नहीं, दोष सदा सभी के नहीं लगते अन्यथा उनमें परस्पर भेद (पुलाक, वकुश, कुशील, प्रतिसेवनाकुशील, कषाय कुशील...) नहीं बन सकते । फिर इस गुणस्थान में छेदोपस्थापना चारित्र होता है ।[३०४] तभी तो प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रायश्चित, प्रत्याख्यान आदि होते हैं ।

अत: यह सर्वमान्य तथ्य है कि छट्ठे गुणस्थान में ही प्रवृत्ति रूप पांचों समितियों का तथा शेष मूलगुणों का प्रवृत्ति रूप से पालन होता है स्वस्थानाप्रमत्त में निर्विकल्पक धर्म ध्यान होता है ।

शुद्धोपयोग के नामान्तर :

शुद्धोपयोग शब्द के एकार्थवाची अनेक नामांतर है । कतिपय ऐसे शब्दों का उल्लेख यहाँ प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति, नयचक्र तथा वृहद् द्रव्य संग्रह टीका के आधार से प्रस्तुत है

---

३०२. गो.जी./गा. ४६

३०३. स.सि. ९/४७

३०४. प्रमाद कृतानर्थ प्रबन्ध विलोपे सम्यक्त्व प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना विकल्प निवृत्तिर्वा।

—स.सि. ९/१८/४३६/७

परमोपेक्षासंयम,[३०५] परमसामायिक,[३०६] शुद्धात्मसंवित्ति,[३०७] निर्विकल्पक समाधि[३०८], वीतराग सामायिक,[३०९] परम वीतराग चारित्र,[३१०] परम साम्य, श्रामण्य, निश्चयमोक्षमार्ग,[३११] संयम,[३१२] भावमोक्ष,[३१३] निश्चय रत्नत्रय उत्सर्ग[३१४] (समस्त परिग्रह का त्याग) ये सभी शुद्धोपयोग के एकार्थवाची नाम हैं। अध्यात्म की अपेक्षा द्रव्यशक्ति रूप शुद्ध पारिणामिक समाधि शुद्धोपयोग आदि नामों से कहा है । साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्त निरोध आदि सभी एकार्थवाची है ।[३१५] समता, मध्यस्थता, शुद्धभाव, वीतरागता, वीतराग चारित्र, धर्मस्वभाव और आराधना ये सभी एकार्थवाची हैं ।[३१६]

शुद्धोपयोग के स्वामी :

गुणस्थान ६-१२ तक तारतम्यता लिए हुए क्रमशः वृद्धिङ्गत शुद्धोपयोग (जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेदरूप) पाया जाता है, अर्थात् गुणस्थान ६-८ प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण में जघन्य शुद्धोपयोग, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय ९-१० गुणस्थान में मध्यम शुद्धोपयोग तथा उपशांत मोह, क्षीणमोह ११-१२ गुणस्थान में उत्कृष्ट शुद्धोपयोग पाया जाता है । उक्त प्रकरण के संदर्भ में शुद्धोपयोगी की परिभाषा इस प्रकार घटित होती है । जिन्होंने (श्रमणों ने) पदार्थों और सूत्रों को भली भांति जान लिया हैं, जो संयम और तप से युक्त हैं, वीतराग है सुख - दुख में समान हैं, वे शुद्धोपयोगी है ।[३१७]

---

३०५. परमोपेक्षा संयम रूप शुद्धोपयोग .... । -प्र.सा.ता. वृ. गा. २३०

३०६. परमसामायिके। - प्र. सा. ता. वृ. गा. २४६

३०७. शुद्धात्मसंवित्ति। -प्र. सा. ता. वृ. गा. २१८

३०८. निर्विकल्प समाधिकाले। -प्र. सा. ता. वृ.गा. २४२

३०९. शुद्धोपयोग लक्षणे परमसामायिके। -प्र. सा. ता. वृ. गा. २४६

३१०. परमवीतराग चारित्र। - प्र. सा. ता. वृ. गा. २३०

३११. देखो संदर्भ ३०८ - प्र. सा. ता. वृ. गा. २४२

३१२. संयम। -प्र. सा. २२२

३१३. भावमोक्ष । - प्र. सा. ता. वृ. १।८४

३१४. बाह्याभ्यंतर परिग्रह रूपं सर्वत्याज्यमित्सुत्सर्गो निश्चयनयः सर्व परित्यागः परमोपेक्षासंयमो । -प्र.सा. ता. वृ. गा. २३०

३१५. प.पं.वि. ४/६४

३१६. नयचक्र गा. ३५६

३१७. सुविदिद पयत्थसुत्तो संजम तवसुंजदो विगदरागो ।
समणो सम सुह दुक्खो भणिदो सुद्धोव ओगोत्त ॥ - प्र. सा. गा. १४

काललब्धिवश भव्यत्व शक्ति का प्रकटीकरण शुद्ध पारिणामिक भाव है तभी निज परमात्म द्रव्य के प्रति सच्चा श्रद्धान-ज्ञान-आचरण (निश्चय रत्नत्रय, अभेद रत्नत्रय) रूप पर्याय से परिणत आत्मा शुद्धोपयोगी कहा जाता है, तब वह परिणमन आगम भाषा में दर्शन मोह, चारित्र मोह के उपशम, क्षय, क्षयोपशम रूप से तीन प्रकार होता है ।

अध्यात्म की भाषा में शुद्धात्माभिमुख रूप परिणाम शुद्धोपयोग है[३१८] बाह्याभ्यंतर परिग्रह मुक्त मूल-उत्तर गुण सहित शुद्धोपयोग युक्त मुनि शिवपथ नायक होते है [३१९]

संयत मुनि के व्यक्ताव्यक्त प्रमादों का नष्ट होना, भेद ज्ञानयुक्त दृष्टि, शीलव्रत से युक्त, निर्विकल्प ध्यानारूढ़ की स्थिति है । वे स्वस्थान अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोगी हैं[३२०] निरावलम्बक ध्यान रूप शुद्धोपयोग की पात्रता सप्तम गुणस्थान में होती है[३२१] उन्हीं के संयम, शील, तप, निश्चय रत्नत्रय, कर्मक्षय की क्षमता, मूलोत्तर गुणों की साधना, व्रत, समिति, गुप्ति आदि बहिरंग चारित्र रूप वीतराग चारित्र का भाव होता है[३२२] वीतराग चारित्र के दर्शन, ज्ञान दोनों अविनाभावी है । इस प्रकार निश्चय चारित्र से युक्त नियम से व्यवहार चारित्र से युक्त होते ही है और दोनों रत्नत्रय मात्र मुनिराजों को ही संभव हैं । चौबीस परिग्रहों से मुक्त निर्विकल्प समाधि में ठहरकर, पर वस्तु को अपने से भिन्न जानना तथा राग द्वेष विमुक्त होना

---

३१८. सहज शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण निज परमात्म द्रव्य सम्यक् श्रद्धान ज्ञानानुचरण पर्यायेण परिणमति । तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिक क्षायोपशमिक क्षायिकं भावत्रयं भण्यते अध्यात्म भाषया पुनः शुद्धात्माभिमुख परिणामः शुद्धोपयोगः इत्यादि।

-स.सा. ता.वृ. गा. ३२० सर्वविशुद्ध अधिकार

३१९. योग शब्देन वीतराग निर्विकल्प समाधिरुच्यते । अथावनन्तज्ञानादि रूपे स्वशुद्धात्मनि योजनं परिणमनं योगः स इत्थंभूतो योगो यस्यातीति स तु योगी ध्यानी तपोधन इत्यर्थः **-प.प्र.टी. २।१३७ पृ. २५४**

बहिरब्भंतर गंथ विमुक्को सुद्धोवजोय संजुत्तो । **-र. सा. १४५**

३२०. णट्ठासेस पमादो वयगुण सीलोलिमंडिओ णाणी ।

अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणोहु अपमत्तो ।। **- गो. जी. गा. ४६**

३२१. देखो संदर्भ, २९६

३२२. सुद्धहँ संजमु सीलु तउ सुद्धह दंसणु णाणु ।

सुद्धह कम्मक्खउ हवइ सुद्धउ तेण पहाणु ॥ - प. प्र., अ, २, दो.६७, पृ. १८८

आदि सभी लक्षण मुनिराज के ही प्रकट हैं, परिग्रहधारी के नहीं।[३२३] फलितार्थ यह है कि शुद्धोपयोग ही परमार्थ में मुख्य है, जो वीतराग धर्मध्यानात्मक और वीतराग शुक्ल ध्यानात्मक के भेद से दो प्रकार का हैं तथा यह संवर का भी मुख्य हेतु है। इसलिए मुनिजनों को उस ध्यान का सदा चिन्तवन करना आवश्यक है[३२४] समयसार में परमार्थ शब्द के द्वारा कहा जाने वाला साक्षात् मोक्ष का कारणभूत शुद्धात्म संवित्ति रूप (शुद्धोपयोग) है जिसे आगम भाषा में वीतराग धर्मध्यान या शुक्ल ध्यान कहते हैं। उसके स्वरूप को जानकर मुनिजन परम समता भाव का अनुभव करते है।[३२५]

---

३२३. चतुर्दशाभ्यन्तर परिग्रहाः क्षेत्रवास्तु.... बाह्य परिग्रहाः इत्थं भूतान् बाह्याभ्यन्तर परिग्रहान् जगत्त्रयेकालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्चत्यक्त्वा शुद्धात्मोपलम्भ लक्षणे वीतराग निर्विकल्प समाधौ स्थित्वा च यो बाह्याभ्यंतर परिग्रहाभ्दिन्नमात्मानं जानाति स परिग्रहस्योपरि राग द्वेषौ न करोति अत्रेदं व्याख्यानं एवं गुण विशिष्ट निर्ग्रन्थस्यैव शोभते न च सपरिग्रहस्येति ....। -प. प्र., अ.२, दो.४९, टी. पृ. १७०, पं. ११-१६

३२४. सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स।
तम्हा संवर हेदू झाणोत्ति विचिंतए णिच्चं॥ -वा. आ. ६४

३२५. रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न भवंति, सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। तथाहि अनंतानुबंधि क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः।। कस्मात् ? इति चेत्, केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितपरमात्मोपादेयत्वे .... रूपस्य, मूढत्रयादिपंचविंशति दोषरहितस्य-"संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती। वच्छल्लं अणुकंपा गुणट्ठ सम्मत्तजुत्तस्स।" इति गाथाकथितलक्षणस्य चतुर्थगुणस्थानवर्ती सरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। अथवा अनंतानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्ञाः क्रोधमानमाया लोभोदय जनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः। कस्मात् इति चेत् निर्विकार परमानंदैक सुखलक्षण परमात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्व-नवपदार्थरूचिरूपस्य मूढत्रयादिपंचविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारि-प्रशमसंवेगानुकम्पादेव धर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य पंचमगुणस्थानयोग्य देशचारित्राविनाभाविसराग-सम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। अथवा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरण क्रोधमानमाया लोभोदयजनित रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः। कस्मादिति चेत् चिदानंदैकस्वभाव शुद्धात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्वनवपदार्थ रुचिरुपस्यमूढत्रयादि पंचविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारि प्रशमसंवेगानुकंपादेवधर्मादि-विषयास्तिक्याभिव्यक्ति-लक्षणस्य षष्ठगुणस्थानरूप सरागचरित्राविनाभाविसराग सम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। अथवा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरण संज्वलन क्रोधमानमायालोभ तीव्रोदयजनिताः प्रमादोत्पादकाः रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः। कस्मात् ? इति चेत्, शुद्धबुद्धैक स्वभाव परमात्मोपादेयत्वेसति तद्योग्यस्वकीयशुद्धात्म समाधिसंजात सहजानंदैक स्वलक्षण सुखानुभूतिमात्र स्वरूपअप्रमत्तादिगुणस्थानवर्ति वीतराग चारित्राविनाभूत वीतरागसम्यक्त्वस्यान्थानुपपत्तेरिति हेतुः। -स.सा.ता.वृ. गा. १७७-१७८

सप्तम गुणस्थान में शुभोपयोग तथा धर्मध्यान :

सप्तम गुणस्थान में भी शुभोपयोग की संभावना है, क्योंकि इस विषय पर गहराई से चिंतन करने पर (शुभोपयोग शुद्धापयोग के संदर्भ में) आचार्यों में कुछ वैचारिक मत भिन्नता दृष्टिगत होती है जिसे आचार्य श्री जयसेन जी ने एक मत सूत्र में बांधने की चेष्टा की है।

अष्ट पाहुड में आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी ने उपयोग को भाव शब्द से कहा है तथा उसे ध्यान घटित करते हुए रेखांकित किया है ।[३२६]

असुहं अहसुद्दं सुहं धम्मं जिण वरिंदेहिं ।।

भाव - उपयोग, जो शुभ, अशुभ और शुद्ध के भेद से तीन प्रकार का हैं। उसमें अशुभोपयोग आर्त्त रौद्र से परिणत होता है और शुभोपयोग धर्मध्यान से परिणत होता है, शुद्धोपयोग शुक्ल ध्यान से परिणत होता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा हैं ।

उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि शुभोपयोग धर्मध्यान से परिणत सप्तम गुणस्थान तक होता है तथा इस मत की सुसंगति समयसार तात्पर्यवृत्ति से ठीक बैठती है ।

सराग सम्यग्दृष्टि भव्य सप्तम गुणस्थान तक शुभोपयोगी लक्षण वाला पाया जाता है।[३२७]

सातिशयाप्रमत्त गुणस्थान में शुद्धोपयोग मानने में किंचित् भी विरोध नहीं है । गुणस्थान का भाग श्रेणी के सन्मुख है । यहाँ से उपशम या क्षायिक किसी न किसी श्रेणी में अवश्य आरोहण होगा ।

किन्तु यह भाग पंचम काल में संभव नहीं, जिससे श्रेणी आरोहण भी नहीं।[३२८] अर्थात् सातिशयाप्रमत्त का अभाव है । स्वस्थानाप्रमत्त भी सातवें गुणस्थान के उस अंश या विभाग का नाम है जहाँ श्रेणी की सन्मुखता नहीं है । यह भाग श्रेणी के अनभिमुख होता है तथा यह पंचम काल में संभव है । इसमें शुभ एवं शुद्धोपयोग के स्पष्ट आगम प्रमाण भी प्राप्त हैं । अर्थात् दोनों उपयोग संभव है परंतु किसी को शुभ

---

३२६. भावंतिविहपवारं सुहासुहं सुद्ध मेव णादव्वं ।
असुरं अट्टरउद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहिं ॥- भा.पा.पृ. ४०७ (पाठान्तर)

३२७. अशुद्धे असंयत सम्यग्दृष्टयपेक्षा श्रावकापेक्षया वा सराग सम्यग्दृष्टि लक्षणे शुभोपयोगेप्रमत्ता- प्रमत्तापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा स्थिताः ।
-स. सा. ता. वृ. गा. १२

३२८. देखो संदर्भ ३३८

किसी को शुद्ध उपयोग पाया जा सकता है किन्तु एक जीव की अपेक्षा एक समय में एक ही उपयोग पाया जायेगा । युगपत् दो मानने से उपयोग का एक मिश्र भेद भी स्वीकार कर उन्हें चार प्रकार से (भेद) मानना पड़ेगा जो आगम सम्मत नहीं है ।

इस गुणस्थान के स्वस्थानाप्रमत्त भाग में प्रवृत्ति-निवृत्ति की अपेक्षा दो अवस्थाएँ प्राप्त हैं जो श्रेणी आरोह - अवरोह के कारण बनती है । आरोह दशा में प्रमत्त से अप्रमत बनने में विशुद्धि अधिक है तथा शुद्धोपयोग पाया जाता है । अवरोह दशा में ठीक इससे विपरीत स्थिति है । विशुद्धि की अपेक्षा हीयमान दशा है अर्थात् अप्रमत्त से प्रमत्त दशा में अवरोह होने से भावों की विशुद्धि में हीनता शुद्धोपयोग की बजाय शुभोपयोग में प्रवृत्ति पायी जाती है । इस प्रकार आचार्य श्री जयसेन जी के दोनों प्रमाण अच्छी तरह घटित होते हैं । विज्ञपाठक सिर्फ इसी गुणस्थान में इसे घटित करें, अन्य गुणस्थानों में नहीं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वस्थानाप्रमत्त गुणस्थान में आरोह दशा में शुद्धोपयोग तथा अवरोह में शुभोपयोग दोनों ही उपयोग पाये जाते हैं किन्तु नीचे के गुणस्थानों में (६,५,४) तो किंचित् व कदाचित् भी शुद्धोपयोग नहीं पाया जाता है। ये स्थान सराग धर्मध्यानात्मक शुभोपयोग युक्त हैं । शुद्धोपयोग युक्त नहीं, जिसकी वीतराग धर्मध्यान के साथ अन्यथानुप्पत्ति है ।[३२९]

उपरोक्त विवेचन से यह तथ्य ध्वनित होता है कि आचार्य श्री जयसेन जी को विभिन्न आचार्यों के मात्र दो ही प्रमाण मिले हों और विशेष विवेचना में न पड़कर दोनों को अपने ग्रन्थ में (टीका में) स्थान दे दिया अथवा टीका करते समय (नय विवक्षा से) उनके ही विचार भिन्न-भिन्न रहे हो अथवा दोनों प्रमाणों की अपेक्षा ही भिन्न-भिन्न रही हो, कुछ भी हो, किन्तु इतना तो सुनिश्चित है कि सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान से शुद्धोपयोग का प्रारंभ होता है - चौथे, पांचवें गुणस्थान से नहीं, जैसी कि कतिपय लोगों ने धारणा बना रखी है और तदनुरूप प्रवृत्तियों में लीन हैं ।यदि कोई यहाँ आशंका करे कि प्रचुर शुभोपयोगियों को भी कभी कदाचित् शुद्धोपयोग पाया जाता है तो उसे शुभोपयोग ही कहा जाता है जैसे नीम वन में दो चार आम्र वृक्ष भी हों तो वह नीम वन ही कहलाता है । प्रचुर शुद्धोपयोगियों को क्वचित् किंचित् शुभोपयोग पाये जाने पर शुद्धोपयोगी कहा जाता है तथैव क्वचित् कथंचित् शुभोपयोग प्रधान होने से शुभोपयोगी कहे जाते हैं । अब यदि कोई ४-५-६ गुणस्थानवर्ती जीवों को भी क्वचित् किंचित् शुद्धोपयोगी मान लें तो क्या हानि हैं? इस संदर्भ में समाधान परक उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि जिसका

---

३२९. परमार्थ शब्दाभिधेयं साक्षान्मोक्षकारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं परमागमभाषया वीतराग धर्मध्यानशुक्लध्यानस्वरूपं स्वसंवेद्यशुद्धात्मपदं परमसमरसीभावेन अनुभवति ... न चान्यः । स.सा. ता. वृ. ६/२१५

विधान आगम में विधि रूप से नहीं हैं तथा निषेध स्पष्ट है ऐसा जानकर भी यदि कोई पूर्वाग्रह को नहीं छोड़े तो समझो वह तीव्र मिथ्यादृष्टि है । सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमिचंद्राचार्य का यह कथन पर्याप्त है ।[३३०]

अर्थात् सूत्र - आगम वाक्य को देख, पढ़कर तथा गुरूओं द्वारा समझाये जाने पर भी यदि कोई अपना पूर्वाग्रह नहीं छोड़ता है तो उसी समय वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है तथा कोई अज्ञानी श्रद्धावश परमवीतरागी गुरूजनों के वचनों को सही न समझकर गलत श्रद्धान करता है कि गुरु का ऐसा उपदेश है, तब भी वह सम्यग्दृष्टि है । क्षयोपशम की कमी या स्मृति की मंदता के कारण गलत सुन समझ मानता रहता है (भावना में खोट नहीं है) इस कारण वह सम्यग्दृष्टि कहा जाता है । कालान्तर में स्पष्ट समझ होने पर गलती सुधार भी लेता है[३३१] जबकि हठाग्रही की धारणा एकदम विपरीत है ।

शुद्धोपयोग को मात्र सातिशय अप्रमत गुणस्थान में माना जाए तो पंचम काल में उसका अभाव ठहरता है । जबकि आचार्यों का मत है कि भरत क्षेत्र के पंचमकालवर्ती मुनियों को आज भी वीतराग निर्विकल्पक धर्मध्यान होता है और यह ध्यान ही शुद्धोपयोग है[३३२] आत्म स्वभाव में स्थित साधुओं को निश्चय धर्मध्यान न मानने वाला मिथ्यादृष्टि है ।

उक्त विवेचना का तात्पर्य मात्र इतना है कि आज पंचमकाल में हीन संहनन हैं तथा इनसे सामायिक, छेदोपस्थापना चारित्र का आचरण संभव है (आगे के चारित्र संभव नहीं) अतः धर्मध्यान पूर्वक भव-छेदक परंपरा मुक्ति का कारणभूत[३३३] यह उत्तम मार्ग श्रद्धा-भक्ति-ज्ञानपूर्वक आचरण करना चाहिए ।

---

३३०. सम्माइट्ठीजीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥
सुत्तादो तं सम्मं दरिसिज्जंतं जदाण सद्दहदि ।
सो चेव हवइ मिच्छाइट्ठी जीवो तदो पहुडि ॥- गो. जी. मू. गा. २७-२८

३३१. देखो संदर्भ ३३०

३३२. मो. पा. गा. ७६

३३३. अत्रेदानी निषेधन्ति शुक्ल ध्यानं जिनोत्तमाः ।
धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तनम् ॥
अत्र येन कारणेन परमात्मध्यानेनान्तर्मुहूर्तेन मोक्षो लभ्यते तेन कारणेनसंसारस्थिति-च्छेदनार्थमिदानीमपि तदेव ध्यातव्यमिति ।
– प. प्र. अ. १, दो. ९७, पृ. ९२

अप्रमत्त गुणस्थान में वीतराग धर्मध्यानात्मक शुद्धोपयोग :

वीतराग निर्विकल्प धर्मध्यान सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान में होता है । श्री ब्रह्मदेव सूरि ने इसे वीतराग निर्विकल्प समाधि,[३३४] श्री देवसेन आचार्य ने निरावलंबन धर्मध्यान[३३५] कहा है । शाब्दिक भिन्नता के अतिरिक्त ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं। परमार्थ में शुद्धोपयोग ही मुख्य है । शुद्धात्मा की प्राप्ति का मुख्य आधार है । अध्यात्म ग्रन्थों में वीतराग धर्मध्यानात्मक एवं शुक्लध्यानात्मक द्विविध रूप विवेचना पायी जाती है ।

आचार्यों द्वारा परमार्थ शब्द से कहा जाने वाला साक्षात् मोक्ष का कारणभूत शुद्धोपयोग ही शुद्धात्म संवित्ति रूप है, आगम भाषा में वीतराग धर्मध्यान या शुक्ल ध्यान होता है जो संवर का मुख्य हेतु है और मुनिजनों को ऐसे ध्यान का सदैव चिंतन करना चाहिए ।[३३६] बिना ध्यान के मोहादि का अभाव नहीं होता, शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं होती और न ही उसे मोक्ष प्राप्ति की संभावना है । एतदर्थ साधकों के लिए शुद्धोपयोग रूप ध्यान की अनिवार्यता प्रतिपल बताई गई है ।

यदि कोई (प्रभाकर भट्ट) यहाँ आशंका करे कि निजात्म ध्यान से अन्तर्मुहूर्त में मोक्ष होता है तो सम्प्रति ध्यानस्थ मुनिजनों को क्यों नहीं होता ? तो इसका समाधान करते हुए आचार्य श्री योगीन्दु देव कहते हैं कि वर्तमान में संहनन हीनता के कारण जैसा शुक्ल ध्यान वज्रवृषभनाराच संहननधारी करते हैं, वैसा संभव नहीं है । पंचम काल में निर्विकल्प धर्मध्यानात्मक शुद्धोपयोग होता है ।[३३७] वीतराग सर्वज्ञ देव ने भरतादि क्षेत्र, दुःषमाकाल में, वीतराग शुक्लध्यान का निषेध बताया है, मात्र धर्मध्यान हो सकता है ।[३३८]

---

३३४. तथैव स्व शुद्धात्मनि निर्विकल्प समाधिलक्षणं वृ. द्र. सं. टी., पृ. १६१,

३३५. देखो, संदर्भ, २९७

३३६. देखो संदर्भ, २९७ । तथा-तं परमात्मानं वीतराग निर्विकल्प समाधौ स्थित्वा भावयेत् ।

-प.प्र.गा.टी. १/४८

३३७. देखो संदर्भ, ३३३

३३८. अत्राह शिष्यः । यद्यन्तर्मुहूर्त परमात्म ध्यानेन मोक्षो भवति तर्हि इदानीमस्माकं तद्ध्यानं कुर्वाणानां किं न भवति ? परिहारमाह । यादृशं तेषां प्रथम संहनन सहितानां शुक्ल ध्यानं भवति तादृश मिदानीं नास्तीति । तथा चोक्तं अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्ल ध्यानं जिनोत्तमाः। धर्मध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तनम् ॥-

-प.प्र.गा.टी.. १।९७

चतुर्थकालवर्ती मुनिराजों को शुक्लध्यानरूपी स्वसंवेदन की जो अनुभूति होती है, वैसी वर्तमान पंचमकाल में नहीं हो सकती किन्तु धर्मध्यान रूप स्वसंवेदन ज्ञान होता है ।[३३९] जघन्य उत्कृष्ट्यादि सराग चारित्र की भांति वीतराग चारित्र की सामग्री भी यथासंभव है। इसीलिए सर्वज्ञदेव ने पंचमकाल में शुद्धचारित्र के अस्तित्व का उपदेश दिया है ।[३४०]

ध्यान के संदर्भ में उत्तम संहनन के अभाव को प्रमुख आधार बनाकर प्रभाकर भट्ट पुनः आशंका व्यक्त करते हैं कि ध्यान निर्जरा का कारण है और वह एकाग्र चित्त का निरोध हुए बिना असंभव है क्योंकि ऐसा ध्यान श्रेष्ठ संहननधारी के होता है । आचार्य ने इस शंका का निराकरण करते हुए स्पष्ट किया हैं कि आठवे से उपशम श्रेणीवाले मुनिजनों की अपेक्षा जो ध्यान कहा है उसमें उत्तम संहनन की अनिवार्यता है । यहाँ श्रेणी एक मात्र वज्रवृषभनाराचसंहनन वालों को होती है वह आठवें से क्रमशः आरोहण कर बारहवें गुणस्थान तक पहुँचते हैं । उनके शुक्ल ध्यान का प्रथम चरण होता है । सभी आचार्यों ने शुद्धोपयोग को शुक्ल ध्यान से युक्त

---

३३९. यादृशं पूर्वपुरुषाणां शुक्ल ध्यानरुपं स्वसंवेदनज्ञानं तादृशमिदानीं नास्ति किंतु धर्मध्यानं योगमस्तीत्थर्यः । –स. सा., ता. वृ. १/११

३४०. अज्ज वि तियरण सुद्धा अप्पा झाऊण लहहिं इंदत्तं ।
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥

यथादि त्रिक संहनन लक्षण वीतराग यथाख्यात चारित्राभवेऽपीदानीं शेषसंहनेनापि शेष चारित्रमाचरन्ति तपस्विनः तथादिक त्रिक संहनन लक्षण शुक्लध्यानाभावेऽपि शेषसंहनेनापि संसार स्थितिच्छेद कारणं परंपरया मुक्तिकारणं च धर्मध्यानमाचरन्तीति

– प. प्र, अ. २, दो. – ३६, पृ. १५८ पं. ४-९

देखो संदर्भ २८७

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।

तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणि। –मो.पा.गा. ७६

३४१. अत्राह प्रभाकर भट्ट : ध्यानेन निर्जरा भणिता भवद्भिः उत्तम संहननस्यैकाग्र चिन्ता निरोधो ध्यानमिति ध्यान लक्षणं उत्तम संहननाभावे कथं ध्यानमिति। भगवानाह। उत्तमसंहनेन यद्ध्यानं भणितं तद पूर्व गुणस्थानादिषूपशम क्षपक श्रेण्योर्यत् शुक्ल ध्यानं तदपेक्षया भणितम्। अपूर्व गुणस्थानादधस्तन गुणस्थानेषु धर्मध्यानस्य निषेधकं

स्वीकार किया है प्रवचनसार तात्पर्यवृत्ति में आचार्य लिखते हैं[३४१] इस कथन से स्पष्ट है कि भाषा कथन शैली या मात्र शब्द भेद का अंतर है लेकिन मूल नियम सर्वज्ञ का उपदेश एक रूप है । आशय एक ही है, जिसे अध्यात्म भाषा में शुद्धोपयोग कहा है वह आगम भाषा में शुक्लध्यान है, जिसका अविनाभावी संबंध शुद्धोपयोग से है तथा आठवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है । वृहद् द्रव्य संग्रह टीका में इसी भाव को व्यक्त किया गया है ।[३४२]

अर्थात् ८-११ गुणस्थान उपशम श्रेणी की अपेक्षा तथा ८-१० गुणस्थान में क्षपक श्रेणी की अपेक्षा प्रथम शुक्लध्यान कहा है ।[३४३] द्वितीय शुक्लध्यान (क्षपक) १२ वें गुणस्थान में होता है ।[३४४]

न भवति। तथा चोक्तं तत्वानुशासने ध्यान ग्रंथे - यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यान मित्यागमे वचः। श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकम् ।। किं च राग द्वेषाभावलक्षणं परमं यथाख्यात रूपं स्वरूपे चरणं निश्चय चारित्रं भणन्ति इदानीं तद्भावे ऽन्यच्चारित्र माचरन्तु तपोधनाः । तथा चोक्तं तत्रेदम् - चारितारो न सन्त्यद्य यथाख्यातस्य संप्रति । तत्किमन्ये यथा शक्ति माचरन्तु तपस्विनः । पुनश्चोक्तं श्री कुंदकुंदाचार्य देवैः मोक्षप्राभृते

अज्जवितिरयण सुद्धा अप्पा झाउण लहहिं इंदत्तं ।
लोयंतिय देवतं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति ॥७७॥

अयमत्र भावार्थः यथादि त्रिक संहनन लक्षण वीतराग यथाख्यात चारित्राभावेऽपीदानीं शेष संहनने नापि शेष संहननेनापि शेष चारित्र माचरन्ति तपस्विनः तथादिक त्रिक संहनन लक्षणं शुक्ल ध्यानाभावेऽपि शेषसंहननेनापि संसार स्थितिच्छेद कारणं परंपरया मुक्तिकारणं च धर्मध्यानमाचरन्तीति। -प. प्र. ता.वृ. २/३६ पृ. १५८

३४२. निर्मोह शुद्धात्म संवित्ति लक्षणेन शुद्धोपयोग संज्ञेनागमभाषया पृथकत्ववितर्कवीचार प्रथम शुक्ल ध्यानेन .... ।

३४३. तच्चोपशम श्रेणी विवक्षायाम पूर्वोपशमकानिवृत्युपशमक सूक्ष्म साम्परायकोपशम कोपशान्तकषाय पर्यन्त गुणस्थान चतुष्टये भवति । क्षपक श्रेण्यां पुनरपूर्वकरण क्षपकानिवृत्तिकरण क्षपक सूक्ष्मसांपराय क्षपकाभिधान गुणस्थान त्रये चेति प्रथमं शुक्ल ध्यानं व्याख्यातं । - वृ. द्र. सं. टी. ४८/२०४/७

३४४. क्षीण कषाय गुणस्थान संभवं द्वितीयं शुक्ल ध्यानं भण्यते ।- वृ. द्र. सं. टी. ४८/ २०४/७

गुणस्थान तेरह, चौदह में शुक्लध्यान के शेष दो भेद पाये जाते हैं[३४५] जो कि शुद्धोपयोग के फलस्वरूप हैं । क्योंकि केवली के पास ध्यान का कोई प्रकरण नहीं रहता। पूर्ण केवलज्ञान बल प्रकट है । आचार्य ने कहा भी हैं सयोग केवली को योग निरोध करते समय सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती तीसरा शुक्लध्यान होता है[३४६] जिसके माध्यम से अरहंत परमात्मा अघातिया कर्मों की स्थिति को समान करते हैं। सातावेदनीय की बंध व्युच्छिति, ३९ प्रकृत्तियों की उदीरणा व्युच्छिति हो जाती है । तथा चौदहवें अयोग केवली गुणस्थान की उपलब्धि होती है ।[३४७] इस गुणस्थान में मात्र पांच ह्रस्व अक्षर प्रमाण काल में शेष ८५ कर्म प्रकृतियों की सत्ताक्षय कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं । यहाँ अयोग केवली को व्युपरतक्रियानिर्वति नामक चौथा शुक्लध्यान होता है ।[३४८] सिद्ध दशा में आत्मस्वरूप का सहज आनंद रस पान करते हैं । अंतिम दो शुक्ल ध्यान मात्र उपचार से है । केवलज्ञानदर्शन के पश्चात् ध्यान की भूमिका कथन मात्र है ।

अब वीतराग चारित्र की अपेक्षा से भी किंचित् प्रकाश डालना यहाँ उपयुक्त होगा । अध्यात्म ग्रन्थों में वीतराग चारित्रात्मक शुद्धोपयोग का प्रारंभ सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान से प्रारंभ होता है क्योंकि शुद्धोपयोग को वीतराग चारित्र का ही पर्यायवाची माना गया है तथा यह निश्चय एवं अंतरंग चारित्र है । यह चारित्र व्रत, समिति आदि बहिरंग चारित्र होने पर ही संभव है[३४९] शुद्धात्मा के निश्चल आत्मानुभूति लक्षण वाले सम्यग्दर्शन ज्ञानादि के अविनाभूत वीतराग चारित्र होता है तथा इससे सम्पन्न योगियों को शुद्धोपयोग होता है ।

किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने इस चारित्र का प्रारंभ ११ वें गुणस्थान से माना है अथवा १२ वें (क्षपक) क्षीणमोह गुणस्थान माना है जो क्रमशः १४ वें गुणस्थान में पूर्ण होता है[३५०] फिर भी इतना सत्य है कि यहाँ सम्पूर्ण कथन अध्यात्म ग्रन्थों की अपेक्षा से घटित करना है, आगम ग्रन्थों के आधार से नहीं ।

---

३४५. परे केवलिनः । -त. सू. ९/३८

३४६. काय योगस्य सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति अयोगस्य व्युपरतक्रियानिर्वर्तीति ।-स. सि. ९/४०

३४७. स.सि. ९/४०
क्ष. सा. गा. २५३-५४ टी.पृ. २१४

३४८. ततस्तदनन्तरं समुच्छिन्नक्रियानिर्वत्ति ध्यानमारभते ।-स. सि. ९/४४/४५७/६ तथा
रा. वा. ८/४४/१/६३५/११
विशेषेणोपरतानिवृत्ता क्रिया यत्र तद् व्युपरतक्रियं ... चतुर्थ शुक्ल ध्यानं ।
- वृ. द्र. सं. टी. ४८/२०४/९

३४९. प्र.सा./ता.वृ. १/९२ पृ. १०४

३५०. जेसिं ण संति जोगा सुहासुहा, पुण्णपाप संचणया ।
ते होंति अजोइ जिणा, अणोवमाणंत गुण कलिया ।।- पं. सं. प्रा. १/१००

रागद्वेष के अभाव रूप उत्कृष्ट यथाख्यात चारित्र (स्वरूपाचरण चारित्र) ही निश्चय चारित्र है जो कि इस पंचम काल में तथा भरतादि क्षेत्रों में संभव नहीं है । चारित्र के ५ भेदों में से मात्र दो सामायिक, छेदोपस्थापना चारित्र ही आज पाये जाते है[३५१] तथा इन्हीं के आचरण की चर्चा आगम में है । आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने मोक्षपाहुड में कहा हैं कि त्रियोग विशुद्धि पूर्वक रत्नत्रय की आराधना से मुनिजन इन्द्रादि के वैभव प्राप्त कर क्रमशः उत्तम नर पर्याय धारण कर परम निर्वाणपद प्राप्त करते हैं । अतः इस काल में मनोयोग पूर्वक इसी मार्ग का आचरण करना चाहिए। इसी में भव्यजनों का कल्याण हैं।

उपरोक्त संपूर्ण विवेचना का निष्कर्ष यही है कि कल्याण मार्ग पर अग्रसर भव्यजन आर्षवाणी की व्याख्या द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को ध्यान में रखकर श्रेय-प्रेय का चयन कर सकते हैं । शाब्दिक अर्थ के भ्रम जाल से विपरीत मार्ग में गति हो सकती है जिसका परिणाम अनंत संसार भ्रमण चक्र में फंसकर केवल दुःख भोगना मात्र है। पर्यायगत योग्यता को नजरंदाज कर वर्तमान में ही पूर्ण सर्व विशुद्ध की भावना मात्र से प्रशस्त पथ में बढ़ पाना टेढ़ी खीर है, मंजिल तक पहुंचने का लक्ष्य है तो तदनुसार पथ (चारित्र मार्ग) पर प्रवृत्ति भी अनिवार्य है । बन्धन को जाने बिना बंधन से छूटने का कोई भी प्रयास सफल नहीं होगा । अतः सभी भव्य प्राणियों को शुद्धोपयोगी की पात्रता का भलीभांति मनन कर आत्महितकारी मार्ग में अग्रसर होने की चेष्टा करना चाहिए । जो वर्तमान पर्याय और पंचम काल में संभव है ।

888

---

३५१. गो.क./जी.प्र. ५४७/७१४/५

जीवन का आधार - सभ्य संस्कार

जीवन वह एक आधार बिन्दु है जहाँ पर हमारा जन्म आत्मा से परमात्मा बनने के लिये, पतित से पावन तथा निर्माण से निर्वाण के लिये होता है । मनुष्य वह है जो स्व तथा पर के जीवन के विषय में सोचते हैं, हित तथा कल्याण के विषय में सोचते हैं । यदि तुम्हारे घर में प्रकाश हैं तो सारे संसार में प्रकाश हो सकता है । शांति का उद्गम सद्कर्त्तव्यों से होता है । दुःख ऐसा बीज है कि उस बीज से उत्पन्न वृक्ष की प्रत्येक डाल, फल, फूल, पत्ती सब दुःख देते हैं ।

परिशिष्ट १

शुद्धोपयोग विषयक शंका-समाधान

* लेखक *

प. पू. गणाचार्य
श्री १०८ विराग सागर जी

* शुद्धोपयोग विषयक - शंका-समाधान *

परिशिष्ट अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका	पृष्ठ	शंका-समाधान संख्या
१. उपयोग	६९	८
२. समास	७४	३
३. सम्यग्दर्शन	७७	१३
४. सम्यग्ज्ञान	८६	२१
(अ) द्रव्यश्रुत		
(ब) भावश्रुत		
५) सम्यक्चारित्र	९२	२१
६) वासनाकाल व शुद्धोपयोग	१००	६
७) भावना	१०२	१०
८) मोक्षमार्ग-रत्नत्रय	१०६	२६
९) आत्मा	१२०	९
१०) संवर	१२३	१५
११) शुद्धोपयोग	१३०	११

(१) उपयोग

शंका-समाधान चर्चा

उपयोग शब्द का प्रयोग आगम एवं अध्यात्म ग्रंथों में दोनों जगह हुआ हैं । पर दोनों के अर्थ स्वतंत्र हैं ।

(१) आगमिक दृष्टि से उपयोग शब्द का अर्थ ज्ञानोपयोग या दर्शनोपयोग होता है । यह चैतन्य का बाह्याभ्यंतर निमित्तवश होने वाला जीव का अनुविधायी परिणाम है । इसका प्रयोग आचार्यों ने "**उपयोगो लक्षण**"(त.सू.अ. २, २८) के अनुसार जीव के लक्षण के अर्थ में किया है ।

(२) आध्यात्मिक दृष्टि से अध्यात्म ग्रंथों में उपयोग शब्द का अर्थ अनुष्ठान स्वरूप सम्यक् या मिथ्या, चारित्रात्मक कहा हैं । अथवा अप्रशस्त (आर्त - रौद्र ध्यानात्मक) प्रशस्त सराग सविकल्प धर्मध्यानात्मक एवं निर्विकल्प धर्म तथा शुक्ल ध्यानात्मक कहा हैं । इसी कारण से उसको अशुभोपयोग, शुभोपयोग व शुद्धोपयोग नाम से कथन किया जाता है । इस प्रकार दोनों जगह उपयोग यह शब्द पृथक्-पृथक् अर्थों में प्रयुक्त हैं ।

१. शंका - क्या आगमिक (जीव के लक्षणात्मक) तथा आध्यात्मिक (जीव के अनुष्ठानात्मक) उपयोग की परिभाषाएँ एक ही हैं या अलग-अलग ?

समाधान : आगम ग्रंथों में कथित जीव के लक्षण स्वरूप उपयोग तथा अध्यात्मग्रंथों में कथित अनुष्ठानात्मक उपयोग एक नहीं है, अलग-अलग है । जैसा कि वृहद्द्रव्य संग्रह में कहा है कि - **ज्ञान दर्शनोपयोग विवक्षायामुपयोग शब्देन विविक्षितार्थ परिच्छित्ति लक्षणो अर्थ ग्रहण व्यापारो गृह्यते । शुभाशुभ शुद्धोपयोग त्रय विवक्षायां पुनः उपयोग शब्देन शुभाशुभ शुद्ध भावनैकरूप मनुष्ठानं ज्ञातव्यमिति ॥(वृ.द्र. सं. टी., गा. ६, पृ. १५)**

अर्थात् ज्ञान और दर्शन की विवक्षा में उपयोग शब्द से अर्थ परिच्छित्ति है लक्षण जिसका, ऐसा अर्थग्रहण रूप व्यापार ग्रहण किया जाता है । तथा शुभ, अशुभ व शुद्ध इन तीन की विवक्षा करने पर उपयोग शब्द से शुभ, अशुभ और शुद्ध भाव रूप एक अनुष्ठान (चारित्र) जानना चाहिए ।

२. शंका - अनुष्ठान का अर्थ चारित्र किस प्रमाण से है ?

समाधान - वृ.द्र.सं. २/३५ में 'सम्यक् श्रद्धान् ज्ञानानुष्ठान' वाक्य में आये अनुष्ठान शब्द से यहाँ चारित्र रूप ध्यान ऐसा अर्थ किया गया है ।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाण से सिद्ध है कि दोनों उपयोग एक नहीं है, उन्हें एक मानना सबसे बड़ी भूल है । क्योंकि आगम ग्रंथों में जीव के लक्षणात्मक उपयोग के (शुद्ध व अशुद्ध) ऐसे दो भेद तो किये गये हैं किन्तु उसके शुभ, अशुभ व शुद्ध ऐसे तीन भेद नहीं किये गये हैं । और शुद्ध ज्ञान, दर्शन ऐसा अर्थ करने से मात्र १३, १४ वें गुणस्थानवर्ती अर्हंत या सिद्ध ही शुद्धज्ञान (केवल ज्ञान) शुद्धदर्शन (केवल दर्शन) होने से शुद्धोपयोग घटित होगा शेष को नहीं, और ऐसा मानने से **(अप्रमत्तादि क्षीणकषाय पर्यंत तारतम्येन शुद्धोपयोगो वर्तते)** यह **समयसार ता.वृ.** तथा **वृ.द्र.सं.टी.** में आगम वाक्य बाधित (गलत) ठहरेगें । अथवा **शुभाशुभ शुद्ध द्रव्यावलंबन उपयोग लक्षणम् । (प्र. सा. ता. वृ. १५९)**

इसका अर्थ शुभ, अशुभ, शुद्ध द्रव्य के जानने देखने रूप में आलंबन अर्थ ग्रहण किया जाये सो भी ठीक नहीं है । क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव भी अपने-अपने क्षयोपशमानुसार शुभद्रव्य (दान, पूजा आदि को) अशुभद्रव्य (हिंसा, झूठ आदि पाप को) तथा शुद्धद्रव्य (अर्हंत सिद्ध आदि को) आत्म द्रव्य या तद्विषयक आगम वाक्यों को जानता है । क्योंकि मिथ्यादृष्टि ग्यारह अंग व नव पूर्व का ज्ञाता हो सकता है तथा ऐसा भी नहीं कि वह उन्हें द्रव्य रूप से जानता नहीं है । जानना देखना ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम आदि की अपेक्षा रखता है । और श्रद्धा मोहनीय कर्म की अपेक्षा रखती है । अतः वह शुद्धद्रव्य को जानता देखता है उनका आलंबन भी लेता है उसे भी शुद्धोपयोग मानना पड़ेगा जिससे आगम और अध्यात्म दोनों में विशेष विरोध खड़ा होगा ।

इसलिये यहाँ अशुद्ध निश्चयनय से अशुभ रागादि में परिणत १ से ३ गुणस्थानवर्ती आत्मा ही अशुभद्रव्य कहलायेगा । और ऐसे अशुभद्रव्य के अवलंबन लेने को अशुभोपयोग तथा बुद्धिपूर्वक पुण्यादि वर्द्धक शुभ (प्रशस्त रागादि से परिणत चौथा या १ - ६ गुणस्थानवर्ती) आत्मा ही शुभद्रव्य कहलायेगा और उस शुभ द्रव्य के आलंबन लेने को शुभोपयोग । एवं बुद्धि पूर्वक होने वाले शुभाशुभ रागादि विकल्पों के अभाव से एक देश शुद्ध निश्चयनय के विषयभूत आत्मा (७ से ऊपर गुणस्थानवर्ती) शुद्धआत्मद्रव्य कहलायेगा । उस शुद्धद्रव्य के आलम्बन लेने को शुद्धोपयोग कहते हैं । ऐसा ही अर्थ यहाँ उचित है । इसे ही ग्रहण करना चाहिए तथा इसी प्रकार ही ग्रहण करना चाहिए किन्तु अन्य रूप से या अन्यथा रूप से ग्रहण नहीं करना चाहिए।

३. शंका - शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से तो **"सव्वे सुद्धा हु सुद्ध णया"** अर्थात् सभी जीव द्रव्य शुद्ध हैं । अतः इसका आश्रय होने से शुद्धोपयोग होता है ?

समाधान : ऐसा भी नहीं है । क्योंकि ग्यारह अंग, नव पूर्व के धारी मिथ्यादृष्टि भी इस नय के आश्रय से द्रव्यश्रुत के द्वारा अपने जीव द्रव्य को वैसा ही जानता है तो उसे भी शुद्धोपयोगी होना चाहिए ? किन्तु नहीं होता है । अतः शुद्धद्रव्य का आश्रय मात्र ही शुद्धोपयोग नहीं है । अपितु अभेद रत्नत्रय से परिणत आत्मा ही शुद्धद्रव्य है और वीतराग निर्विकल्प समाधि में उस शुद्धद्रव्य का ही आश्रय लिया जाता है, तभी शुद्धोपयोग होता है ।

४. शंका - क्या अनुष्ठानात्मक उपयोग व लक्षणात्मक उपयोग दोनों युगपत् रहते हैं या अलग - अलग । इसमें व्याप्ति घटित कीजिये ?

समाधान - लक्षणात्मक उपयोग तो प्रत्येक जीव का लक्षण है । वह नियम से सदा साथ रहता है । किन्तु अनुष्ठान का नियम नहीं है । वह रह भी सकता है और नहीं भी रह सकता है ।

अर्थात् १३-१४ वें गुणस्थानवर्ती जीवों को तथा सिद्ध जीवों को अनुष्ठानात्मक रूप उपयोग नहीं होता है । शेष जीवों को रहता है । ७-१२ गुणस्थानवर्ती जीवों के मात्र शुद्धोपयोग ही रहता है, शुभाशुभ उपयोग नहीं होता है किसी अपेक्षा से सप्तम गुणस्थान से गिरते समय उन्हें शुभोपयोग भी संभव है किन्तु अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त करते समय ४-६ गुणस्थानवर्ती जीवों के मोक्ष साधक शुभोपयोग होता है । तथा आर्त, रौद्र आदि के समय अशुभोपयोग भी संभव है । १-३ गुणस्थानों में अशुभोपयोग प्रमुख रूप से होता है किन्तु मात्र पुण्य बंधक शुभोपयोग भी संभव है। ये तीनों शुभ-अशुभ और शुद्धोपयोग जीव के जिस समय होता है उस समय जीव के लक्षणात्मक उपयोग तो रहता ही है यदि वह न रहे तो फिर जीवत्वपने का ही अभाव हो जायेगा । अतः जहाँ-जहाँ जीव के ज्ञान, दर्शन रूप उपयोग रहता है वहाँ-वहाँ अनुष्ठानात्मक उपयोग रह भी सकता है और नहीं भी, कोई नियम नहीं है ।

५. शंका - अनुष्ठानात्मक उपयोग १२ वें गुणस्थान तक ही क्यों पाया जाता है ?

समाधान - छद्मस्थों का अनुष्ठान (ध्यान) क्षायोपशमिक ज्ञान रूप ही होता है और क्षायोपशमिक ज्ञान १२ वें गुणस्थान तक ही होता है । इसके आगे नहीं । यही कारण है कि उत्कृष्ट शुद्धोपयोग यहाँ तक ही पाया जाता है, इसके आगे नहीं ।

६. शंका - अनुष्ठानात्मक उपयोग क्या स्वभाव द्रव्य है या स्वभाव पर्याय है?

समाधान - नहीं, न स्वभाव द्रव्य है न स्वभाव पर्याय है। किन्तु शुभाशुभोपयोग अशुद्ध पर्याय है तथा शुद्धोपयोग अशुद्ध नय के अंतर्गत एकदेश शुद्ध नय स्वरूप ध्यान की एक पर्याय है ।

७. शंका - क्या शुभ या अशुभ उपयोग ज्ञान गुण की पर्याय है ?

उपयोग शुभ राग को विषय करता है या साथ देता है तो शुभोपयोग और अशुभ राग को विषय करता है या साथ दे तो अशुभपयोग होता है ।

समाधान - ऐसा कथन बिल्कुल गलत है । आगम विरूद्ध ही है । क्योंकि यदि (शुभो. अशुभो. या शुद्धोपयोग को) ज्ञान गुण की पर्याय मान लेंगे तो फिर शुद्धोपयोग १३, १४ वें गुणस्थान में व सिद्धों को भी मानना पड़ेगा और ऐसा मानेंगे तो ७ से १२ वें गुणस्थान तक शुद्धोपयोग होता है, ऐसा आगम का कथन गलत ठहरेगा ।

८. शंका - तब शुभ या अशुभ राग को विषय करता है या साथ देता है इसलिए उपयोग शुभोपयोग या अशुभोपयोग मानें ?

समाधान - नहीं, ऐसा नहीं है । क्योंकि यदि शुभ या अशुभ राग का विषय करने वाले उपयोग को शुभोपयोग या अशुभोपयोग मानें तो फिर केवलियों को भी शुभोपयोगी या अशुभोपयोगी मानना पड़ेगा । क्योंकि उनके ज्ञान में विश्व की त्रिकालवर्ती पर्यायें युगपत् झलकती हैं और उसके शुभराग, अशुभराग भी झलकता है और केवलज्ञान उसका विषय करता है । अतः वे भी वैसे ही ठहरेंगे । अर्थात् शुभाशुभ शुद्ध पर्याय केवल ज्ञान का विषय होने से केवलज्ञानोपयोग भी वैसा ही शुभाशुभ ठहरेगा । अथवा वे पर्यायें यदि उनके ज्ञान का विषय नहीं बनती है तो फिर **सर्व द्रव्यपर्यायेषु केवलस्य** । - **(त.सू. १/२८)** यह सूत्र गलत ठहरता है। अतः सिद्ध है कि शुभ अशुभ राग को विषय करनेवाला उपयोग शुभ या अशुभ है मानना गलत है । अथवा जब उपयोग शुभ राग का साथ दे शुभोपयोग और अशुभराग का साथ दे तो अशुभोपयोग, यह कहना भी गलत है। क्योंकि प्रत्येक गुण व उनकी पर्यायें स्वतंत्र हैं। न वे किसी का साथ देती है और न किसी का साथ लेती हैं। और न किसी अन्य पर्याय के आश्रय की अपेक्षा रखती हैं। उपयोग का काम तो मात्र जानना देखना ही आगम में कहा है, साथ लेने-देने की बात कही भी नहीं आई। तथा जानने-देखने का काम तो मात्र जानना-देखना ही है। ज्ञाता-दृष्टा यह उसका स्वभाव है । शुभ या अशुभ को मात्र जानना या देखना आस्रव बंध का कारण नहीं है। अपितु उसमें राग-द्वेष करना ही बंध का कारण है। रागद्वेष चारित्रमोह की पर्याय है, कषाय है और ये ही कषाय, स्थिति और अनुभाग बंध कराती हैं। कहा भी है ...

ठिदि अणुभागा कसायदो होंति । (द्र. स. गा. ३३)

अतः सिद्ध है कि उपयोग कभी भी राग आदि का न तो साथ ही देता है और न ये बंध कराता है । मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है । जहाँ कहीं भी अज्ञान भाव का बंध का

कारण कहा भी गया है तो वह उपचार है । वास्तविकता में तो उसके साथ रहने वाला मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि ही बंध के कारण हैं । इसे क्षायोपशमिक अज्ञान भी इस ही मिथ्यात्वादिक के ही कारण कहा जाता है । उपरोक्त सभी प्रमाणों से सिद्ध है कि शुभ, अशुभ व शुद्ध की विवक्षा में ज्ञान, दर्शनोपयोग ग्राह्य नहीं है किन्तु अनुष्ठानात्मक परिणति ही ग्राह्य है । और वह अनुष्ठान/परिणति/वीतराग निर्विकल्प ध्यान इत्यादि चारित्र गुण की पर्याय है । ज्ञान, दर्शन गुण की नहीं ।

(२) समास

प्रत्येक आगम वाक्यों की विवक्षा वक्ता की इच्छा पर निर्भर करती है कि वह आगम को ध्यान में रखते हुए अपनी विवेचना किस प्रकार से सिद्ध करे । शुद्धोपयोग पद की सिद्धि हमनें कर्मधारय समास की मुख्यता से की है और यही हमें अभिप्रेत है । तत्पुरुष समास से वह सिद्ध नहीं हो पाता है ।

१. शंका - शुद्धोपयोग कर्मधारय समास से सिद्ध पद है या सप्तमी तत्पुरुष समास से - स्पष्ट कीजिये ?

समाधान - अध्यात्मिक दृष्टि से "**शुद्धः उपयोगः इति शुद्धोपयोग**" अथवा "**शुद्ध अनुष्ठान मयः उपयोगः इति शुद्धोपयोगः**" अर्थात् शुद्ध है अनुष्ठान मय उपयोग जिनका वह शुद्धोपयोग है । यह कर्मधारय समास से सिद्ध पद है और इसे ही ब्रह्मदेव सूरि आदि ने सप्तम गुणस्थान से घटित किया है ।

इस समास का ऐसा अर्थ नहीं निकलना चाहिये कि शुद्ध हो गया है उपयोग जिनका ऐसे अर्हंत, सिद्ध का केवलज्ञान व केवलदर्शन रूप उपयोग वह शुद्धोपयोग है । ऐसा अर्थ करने पर फिर अप्रमत्तादि गुणस्थानों में शुद्धोपयोग घटित नहीं होगा। तथा वही बात स.सा./ता.वृ. ३२० में भी कही है कि "**तदायं जीवः सहज शुद्ध परिणामिक भाव लक्षण निज परमात्म द्रव्य सम्यक् श्रद्धान ज्ञानानुचरण पर्यायेण परिणमति...... (तदा सः) शुद्धात्माभिमुख परिणामः शुद्धोपयोगः**" । अर्थात् - सहज शुद्ध पारिणामिक भाव है जिसका ऐसा अपनी परमात्मद्रव्य के प्रति सच्चा श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरणमयी पर्यायरूप से परिणमित होता है तब वह शुद्धात्मा के प्रति अभिमुख परिणाम है वही शुद्धोपयोग पर्याय नाम को प्राप्त करती है । अर्थात् उसी पर्याय विशेष को ही शुद्धोपयोग कहते हैं । तात्पर्य यह निकला कि अभेद रत्नत्रयरूप जो पर्याय से परिणमित है वही परिणाम पर्याय शुद्धोपयोग है । यथा "**शुद्धः अनुष्ठानात्मक उपयोगः परिणामः पर्यायः इति शुद्धोपयोगः ।**" ऐसा कर्मधारय समास से सिद्ध होता है । और उस शुद्धोपयोग में शुद्धात्मा ध्येय होती है। **शुद्धोपयोगे शुद्धबुद्धैकस्वभावो निजात्माध्येये तिष्ठतिस्तेन कारणेन शुद्ध ध्येयत्वाच्छुध्दावलंबनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूप साधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते । (वृ.द्र.सं.टी. २/३४ पृ. ७७)** अर्थात् - शुद्धोपयोग में शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव का धारक जो स्वात्मा है सो वह ध्येय होता है । इस कारण शुद्धध्येय होने से, शुद्धात्मस्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग घटित होता है ।

२. शंका - सप्तमी तत्पुरुष समास से यदि शुद्धोपयोग शब्द की सिद्धि की जाय तो क्या आपत्ति है ?

समाधान - सप्तमी तत्पुरुष समास करने पर "**शुद्धेआत्मनि उपयोगः इति शुद्धोपयोगः**" अर्थात् शुद्ध आत्मा यानि द्रव्यकर्म, भाव व नोकर्म से रहित सिद्ध परमेष्ठी की आत्मा में ध्यान या भावनारूप उपयोग शुद्धोपयोग है । अथवा शुद्धद्रव्यार्थिक नय के द्वारा कथित शक्तिरूप से स्थित अपनी शुद्ध आत्मा में सविकल्प ज्ञान, दर्शन रूप उपयोग वह शुद्धोपयोग है । पर ऐसा अर्थ करने से ४, ५, ६ गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टियों को भी द्रव्यश्रुत के आलम्बन से विकल्पात्मक नयों की विवक्षा से अपनी शुद्ध आत्मा को जानने में भी शुद्धोपयोगी मानना पड़ेगा । उक्त गुणस्थानों को आचार्यों ने सराग व सविकल्प ही कहा हैं और उनमें अन्यथानुप्पत्ति हेतु दिया है । फिर आध्यात्मिक ग्रंथों में कथित निर्विकल्प रूप शुद्धोपयोग शब्द से तथा अप्रमत्तादि गुणस्थान से ही शुद्धोपयोग होता है इससे बाधा आयेगी या अलग सविकल्प निर्विकल्परूप से दो प्रकार का शुद्धोपयोग मानना पड़ेगा । अतः यह सिद्ध है कि शुद्धोपयोग एक स्वतंत्र पर्याय है जो निर्विकल्प ध्यान रूप है । और उनमें शुद्धात्मा ध्येय होती है ।

३. शंका - क्या मिश्रोपयोग भी होता हैं ?

समाधान - ऐसा कहीं किन्ही आचार्यों के स्पष्ट वाक्य पढ़ने में नहीं आये अपितु आगमिकदृष्टि से "**उवओगो दुवियप्पो दंसण णाणं**" । (**द्र.सं.गा. ४**)

स द्विविधोऽष्ट चतुर्भेद ः । (**त.स. २/९**)

अर्थात् - उपयोग के दो भेद हैं, ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग । अथवा इसके क्रमशः ज्ञानोपयोग के आठ तथा दर्शनोपयोग के चार भेद, कुल मिलाकर बारह (१२) भेद होते हैं । किन्तु कहीं भी मिश्रनामक उपयोग नहीं कहा गया हैं । इसी तरह आध्यात्मिक दृष्टि से भी उपयोग के अशुभ, शुभ, शुद्धोपयोग की दृष्टि से तीन भेद होते हैं किन्तु वहाँ भी कहीं मिश्रोपयोग नामक तीसरा भेद नहीं कहा है । हाँ, जहाँ कहीं भी कुछ कर्म निषेकों के अनुदय (क्षय या उपशम) को या कुछ के उदय से मिली-जुली अवस्था को या कुछ अंश में व्रत, कुछ में अविरत भाव को, शुद्धात्मानुराग व शुभचारित्र को कुछ अंशों में रागाभाव तथा कुछ अंशों में राग भाव को, क्षायोपशमिक ज्ञान में भी (मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ ।) इस रूप भाव से युगपत् पाये जाने को मिश्रोपयोग कह दिया जाता है परंतु ऐसा कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिला । आत्मानुभव हो जाने पर अनेक पर्यायरूप भेद भावों के साथ मिश्रता होती है (**स.सा.आ.टी. १७/१८**) कर्म (राग) और ज्ञान (वीतराग) का एकाश्रितापना पर द्रव्य के साथ शुद्धात्मवृत्ति (परिणति) संमिलित होने से शुभोपयोगी चारित्र है । (**प्र.सा.आ.ख्याति.**

२४६)। अर्हंतादि भक्ति सम्पन्न जीव कदाचित् शुद्धोपयोग वाला होने पर भी राग भाव जीवित होने से शुभोपयोगीपने को नहीं छोड़ता ।(का. त. १६६) सम्यक्त्व पूर्वक शुभोपयोग से मुख्य रूप से पुण्य बंध होता है परन्तु परम्परा से मोक्ष भी होता है, केवल पुण्य बंध ही नहीं होता है ।(प्र.सा.ता.वृ. २५५/३४२/२७) छद्मस्थ का ज्ञान शुद्धाशुद्ध है अर्थात् केवलज्ञान की अपेक्षा अशुद्ध तथा वीतराग सम्यक्त्व व चारित्र से युक्त होने के कारण शुद्ध है ।(स.सा.ता.वृ. ४१५) पृथकत्ववितर्क शुक्ल ध्यान में यद्यपि शुद्धात्म संवेदन करता है किन्तु जितने अंश में स्थिरता नहीं होने से अनिश्चित विकल्प होते हैं ।(वृ.द्र.सं. टी. ४८/२०३/९) जितने अंश में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र उतने में बंध नहीं, किन्तु जितने अंश में राग उतने अंश में बंध (पु.सि. २१२/२१६) उपर्युक्त वाक्यों से ज्ञात है कि मूल में कहीं भी 'मिश्र' शब्द का प्रयोग नहीं है, मात्र हिन्दी में ऐसा अर्थ किया गया है ।

(३) सम्यग्दर्शन

आगमिक वीतराग सम्यग्दर्शन और आध्यात्मिक वीतराग सम्यग्दर्शन में अंतर है । क्योंकि आगमिक वीतराग सम्यग्दर्शन आध्यात्मिक दृष्टि से व्यवहार ही हैं तथा आध्यात्मिक सम्यग्दर्शन का वर्णन आगम व अध्यात्मग्रंथों में अलग-अलग रूप से किया गया है । आगम में सराग व वीतराग सम्यग्दर्शन की मुख्यता है जिसमें बाह्य एवं आभ्यन्तर कारणों का वर्णन है । तथा अध्यात्म ग्रंथों में निश्चय एवं व्यवहार सम्यग्दर्शन की मुख्यता से वर्णन है । फिर भी अध्यात्म ग्रंथों में भी सराग एवं वीतराग सम्यग्दर्शन का वर्णन है । यहाँ आगमिक सराग व वीतराग सम्यग्दर्शन को तथा आध्यात्मिक सराग सम्यग्दर्शन को सविकल्प, भेद भावना रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है जो कि चौथे से छटवें गुणस्थानवर्तियों में पाया जाता है ।

निश्चय (वीतराग) सम्यग्दर्शन तो वीतराग चारित्र के अविनाभावी ही है तथा उसे ही वीतराग, निर्विकल्प, अभेद रत्नत्रयात्मक ध्यान रूप निश्चय सम्यग्दर्शन कहा जाता है जो कि सातवें से आगे के गुणस्थान में पाया जाता है ।

१. शंका -क्या सम्यग्दर्शन के पूर्व पाँचों लब्धियों का होना अनिवार्य है ? और क्या तभी मिथ्यात्व नष्ट होता है ?

समाधान - पंचलब्धयः उपशम सम्यक्त्वे भवन्ति ।
(गो.जी./जी.प्र. ६५१/८८५/२)

अर्थात् पांचों लब्धियाँ उपशम सम्यक्त्व के ग्रहण में होती है ।

इति गाथा कथित लब्धि पञ्चक संज्ञेनाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुख परिणाम संज्ञन च निर्मल भावना विशेष खड्गेन पौरुषंकृत्वाकर्मशत्रुं हन्तीति ।
(वृ.द्र.सं.टी., पृ. १२३)

आगम भाषया दर्शनचारित्र मोहनीयोपशम क्षय संज्ञेनाध्यात्मभाषया

स्वशुद्धात्माभिमुख परिणाम संज्ञेन च कालादि लब्धि विशेषेण मिथ्यात्वं विलयंगतम् ... । **(वृ. द्र.सं.टी. ३७-४१ पृ. १३१)**

सारांश यह हैं कि आगम भाषा से पांच लब्धियों से एवं दर्शन व चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से तथा अध्यात्म भाषा से शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम नामक भावना रूपी तलवार से मिथ्यात्व कर्म का विलय होता है ।

२. शंका - सम्यग्दर्शन किसे कहते है ?

समाधान - परमार्थ के प्रति सच्ची श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

३. **शंका** - सम्यग्दर्शन के मुख्य कितने भेद हैं ?

समाधान - सराग व वीतराग अथवा निश्चय व व्यवहार इस प्रकार आगम व अध्यात्म की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं ।

४. **शंका** - अध्यात्म दृष्टि से सराग व व्यवहार सम्यग्दर्शन एक है । इसी प्रकार क्या वीतराग व निश्चय सम्यग्दर्शन एक हैं ?

समाधान - हाँ, एक है । **यथा**

सराग सम्यक्त्वाभिधानं व्यवहार सम्यक्त्वं विज्ञेयम् .... ।

वीतराग चारित्राविनाभूतं वीतराग सम्यक्त्वाभिधानं निश्चय सम्यक्त्वं च ज्ञातव्यम् । (वृ. द्र.सं.टी. ४१/१४०/१२)

अर्थात् अध्यात्म भाषा में सराग सम्यक्त्व को ही व्यवहार सम्यक्त्व जानना चाहिए तथा वीतराग चारित्र के अविनाभावी वीतराग सम्यक्त्व को निश्चय सम्यक्त्व जानना चाहिए ।

५. **शंका** - क्या आगम अपेक्षा से भी सराग व वीतराग सम्यक्त्व होता हैं ?

समाधान - हाँ, आगम की अपेक्षा भी सराग व वीतराग सम्यक्त्व होते हैं ?

यथा -

वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं च कथितं द्विधा ।

विरागं क्षायिकं तत्र सरागमपरंद्वयम् ॥

संवेग प्रशमास्तिक्यकारुण्य व्यक्त लक्षणम् ।

सरागं पटुभिर्ज्ञेयमुपेक्षा लक्षणं परम् ॥ (अ.ग. श्रा., २/६५-६६)

अर्थात् वीतराग व सराग के भेद से दो प्रकार का सम्यग्दर्शन हैं । उनमें क्षायिक वीतराग सम्यग्दर्शन है तथा उपशम व क्षयोपशम सराग सम्यग्दर्शन है । प्रशमादि चार गुणों की अभिव्यक्ति सराग सम्यग्दर्शन है और उपेक्षा लक्षण वीतराग सम्यग्दर्शन हैं ।

६. **शंका** - क्या आगम में कथित वीतराग सम्यग्दर्शन विषयक आचार्यों में विचार भेद हैं ?

समाधान - हाँ, विचार भेद हैं । यथा

(१) **विरागं क्षायिकं तत्र** (अ.ग.श्रा. ६५) - क्षायिक सम्यग्दर्शन वीतराग सम्यग्दर्शन है । **सप्तानां कर्म प्रकृतीनां आत्यन्तिकेऽपगमे सत्यात्मविशुद्धि मात्र मितरद् वीतरागसम्यक्त्वमित्युच्यते ।** (रा.वा. १/२/३१/२२/११)

सातों प्रकृतियों के आत्यंतिक क्षय हो जाने पर जो आत्म विशुद्धि प्राप्त होती है वह वीतराग सम्यग्दर्शन है ।

रागद्वयरहितानां क्षीणमोहावरणानां वीतराग सम्यग्दर्शनम् - (भ.आ.टी. ५१/१७५, १८, २१) प्रशस्ताप्रशस्त दोनों प्रकार के राग से रहित क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थानवर्तियों का वीतराग सम्यग्दर्शन हैं ।

आत्मविशुद्धि मात्रमितरत् । (स.सि. १/२/१०)

आत्म विशुद्धि मात्र वीतराग सम्यग्दर्शन है ।

शंका - अध्यात्मदृष्टि से क्या आगमिक उपशम या क्षयोपशम सराग सम्यक्त्व व्यवहार ही है ?

समाधान - हाँ, देखो ....

सप्त प्रकृतीनां उपशमेन क्षयोपशमेन च सराग सम्यग्दृष्टि भूत्वा ... ।
(प.का./ता.वृ./१५०-१५१-२१७)

तात्पर्य यह है आगम भाषा में कहा जाने वाला सराग सम्यग्दर्शन प्रशम, संवेग अनुकम्पा, आस्तिक्य लक्षण तथा (स.सि. १/२), **तत्वार्थश्रद्धान स्वरूप** (त.सू. १/२)

परमार्थ देव शास्त्र गुरु के प्रति श्रद्धान वाले (**रत्न.श्रा. ४**) आप्त आगम तत्त्व श्रद्धान (**नि.सा. ५**) छः द्रव्य, पंचास्तिकाय, नवपदार्थ श्रद्धान स्वरूप श्रद्धान, सराग/ व्यवहार सम्यग्दर्शन ही है । एवं (पं.सं. १/१५७)

अथवा करणानुयोग कथित सात प्रकृतियों का औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक सम्यग्दर्शन । तथा द्रव्यानुयोग कथित निजशुद्धात्मा उपादेय है । ऐसी रूचि रूप/ भावनात्मक व्यवहार सम्यग्दर्शन है ।

८. **शंका** - सराग व वीतराग अथवा निश्चय या व्यवहार सम्यग्दर्शन में पारस्परिक क्या संबंध है ?

समाधान - व्यवहार सम्यक्त्वेन निश्चय सम्यक्त्वं साध्यत इति साध्यसाधक भावज्ञापनार्थमिति । (वृ.द्र.सं.टी. ४१ पृ. १४१)

अर्थात् व्यवहार या सराग सम्यक्त्व रूप साधन से साध्य रूप निश्चय (या वीतराग) सम्यक्त्व साधा जाता है, यही दोनों में साध्य-साधक भाव संबंध हैं ।

९. **शंका** - आध्यात्मिक वीतराग या निश्चय सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ?

समाधान - शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकरूप सुखामृतरसास्वादनमेवोपादेयमिन्द्रियसुखादिकं च हेयमिति रुचिरूपं वीतराग चारित्राविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वाभिधानं निश्चयसम्यक्त्वं च ज्ञातव्यमिति । (द्र.सं.टी. ४१/पृ. १४०)

शुद्धोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न परम आह्लाद रूप सुखामृतरस का आस्वादन ही उपादेय है । इंद्रिय जन्य सुख आदिक हेय है, ऐसी रुचि तथा जो वीतराग चारित्र के बिना नहीं होता ऐसा जो वीतराग सम्यक्त्व है, यह ही निश्चय सम्यक्त्व है ।

१०. **शंका** - सराग व वीतराग सम्यग्दर्शन किस-किस गुणस्थानों में होता है?

समाधान - सराग सम्यग्दर्शन चौथे से छट्ठे गुणस्थान तक होता है तथा वीतराग सम्यग्दर्शन सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान से होता है । इस विषय को समयसार तात्पर्य वृत्ति में इस प्रकार कहा है । यथा -

रागी सम्यग्दृष्टिर्नभवतीति भणितं भवद्भिः। तर्हि चतुर्थ पंचमगुणस्थान वर्तिन तीर्थंकर-कुमार भरत सगर-राम पांडवादयः सम्यग्दृष्टियो न भवति? इति। तन्न मिथ्यादृष्टयपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां बंधाभावात्सराग- सम्यग्दृष्टियो भवंति। कथं इति चेत् - चतुर्थगुणस्थानवर्तिनां जीवानां अनन्तानुबंधि क्रोधमान-मायालोभ मिथ्यात्वोदयजनितानां पाषाणरेखादिसमानानां रागादीनामभावात् । पंचमगुणस्थानवर्तिनां पुनर्जीवानां अप्रत्याख्यान क्रोधमानमायालोभोदयजनितानां भूमिरेखादिसमानानां रागादिनामभावात्, इति पूर्वमेव भणितमास्ते । अत्र तु ग्रन्थे पंचमगुणस्थानादुपरितन गुणस्थानवर्तिनां वीतराग सम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्या ग्रहणं सराग सम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्त्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यं । (स.सा.ता.वृ. २०१-२०२/२७९/५)

प्रश्न - रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता है, यह आपने कहा है, किन्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती तीर्थंकर कुमार, भरत, सगर, राम, पांडव आदि सम्यग्दृष्टि नहीं होना चाहिए क्योंकि उनके राग का सद्भाव होने से वे सब सरागी हैं (गृहस्थापेक्षया)?

उत्तर - ऐसा नहीं है, मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा ४३ कर्म प्रकृतियों का अभाव हो जाने पर वे सरागसम्यग्दृष्टि हैं ।

प्रश्न - किस प्रकार से वे सरागसम्यग्दृष्टि हैं ?

उत्तर - चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों के अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व के उदय से होनेवाला पाषाण रेखादिसदृश रागादि का अभाव होने से वे सरागसम्यग्दृष्टि हैं और पंचमगुणस्थानवर्तियों के क्रोध, मान, माया, लोभ भूमिरेखादि के समान रागादि उनके न होने से सरागसम्यग्दृष्टि हैं ऐसा कहा जा चुका है । इस (समयसार) ग्रन्थ में पंचमगुणस्थान के ऊपरवाले अर्थात् छट्ठे, सातवें आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागसम्यग्दृष्टियों को मुख्यरूप से ग्रहण किया गया है तथा सरागसम्यग्दृष्टियों का गौणरूप से ग्रहण है । सम्यग्दृष्टि के विवेचन के समय ऐसा सभी जगह जानना चाहिए । और भी कहा गया है कि राग, द्वेष, मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं होते है, क्योंकि उनके होने पर सम्यग्दृष्टिपना नहीं हो सकता है । इसी बात को स्पष्ट किया गया है - कि अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से होने वाले राग, द्वेष, मोह चतुर्थगुणस्थानवर्ती के नहीं होते क्योंकि केवलज्ञानादि अनंतगुण सहित परमात्मा को उपादेय मानने पर वीतरागसर्वज्ञदेव के द्वारा कहे गये छह द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, और नौ पदार्थों की श्रद्धारूप तथा तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषों से रहित सम्यक्त्व माना गया है, उसी प्रकार सम्यक्त्व से युक्त प्राणी के संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति वात्सल्य, अनुकम्पा ये आठ गुण होते हैं ।

११. शंका - परमात्म प्रकाश में निजशुद्धात्मा उपादेयरूप निश्चय सम्यक्त्व कहा है और वह गृहस्थों को होता है, ऐसा कहा है ?

समाधान - परमात्म प्रकाश में उस प्रकरण को पूर्ण पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि वह वास्तविक में व्यवहार सम्यग्दर्शन ही है ।

वीतराग सम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं वीतराग चारित्राविनाभूतं तदैव निश्चयसम्यक्त्वमित्ति ।अत्राह प्रभाकर भट्टः । निज शुद्धात्मैवोपादेय इति रूचिरूपं निश्चय सम्यक्त्वं भवतीति बहुधा व्याख्यातं पूर्व भवद्भिः इदानीं पुनः वीतराग चारित्राविनाभूतं निश्चय सम्यक्त्वं व्याख्यातमिति पूर्वापरविरोधः कस्मादिति चेत् । निज शुद्धात्मैवोपादेयः इति रुचिरूपं निश्चय सम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां तीर्थंकर परमदेव भरतसगर रामपांडवादीनां विद्यते, न च तेषां वीतराग चारित्रमस्तीति परस्परविरोधः अस्ति चेत्तर्हि तेषामसंयतत्त्वं कथमिति पूर्वपक्षः । तत्र परिहारमाह। तेषां शुद्धात्मोपादेय भावनारूपं निश्चय सम्यक्त्वं विद्यते परं किन्तु चारित्र मोहोदयेन

स्थिरता नास्ति व्रतप्रतिज्ञाभंगो भवतीति तेन कारणेनासंयता वा भण्यन्ते। शुद्धात्मभावना च्युताः सन्तः भरतादयो निर्दोषपरमात्मनामर्हत्सिद्धानां गुण स्तववस्तुस्तवरुपस्तवनादिकं कुर्वन्ति तच्चरितपुराणादिकं च समाकर्णयन्ति तदाराधकपुरुषाणामाचार्योपाध्याय-साधूनाम् विषयकषायदुर्ध्यानवंचनार्थं संसारस्थितिच्छेदनार्थं च दानपूजादिकं कुर्वन्ति तेन कारणेन शुभरागयोगात् सरागसम्यग्दृष्टियो भवन्ति। या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्व संज्ञा वीतराग चारित्राविनाभूतस्य निश्चयसम्य क्त्वस्य परंपरया साधकत्वादिति। वस्तुवृत्या तु तत्सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वाख्यं व्यवहारसम्यक्त्वमेवेति भावार्थः।(प.प्र.टी.२/ १७)

अथवा निज शुद्धात्मा की अनुभूति लक्षण वाले वीतराग चारित्र के अविनाभावी वीतराग सम्यग्दर्शन होता है उसे ही निश्चय सम्यग्दर्शन कहते है ।

प्रश्न - यहाँ पर प्रभाकर भट्ट ही अपने गुरु श्री योगीन्द्र देव से प्रश्न करते हैं कि हे गुरो ! अपनी निजशुद्धात्मा ही उपादेय है । ऐसी रुचिरुप निश्चय सम्यक्त्व होता है, ऐसा पहले कई बार आपने कहा हैं और अब वीतराग चारित्र के अविनाभावी सम्यक्त्व को निश्चय सम्यक्त्व कह रहे हैं, अतः दोनों में पूर्वापर का विरोध है ?

दूसरा प्रश्न - निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसा रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व गृहस्थावस्था में भी तीर्थंकर परमदेव तथा भरत, सगर, राम, पांडव आदि को रहता है परन्तु उनको वीतरागचारित्र नहीं होता है, इसलिए भी विरोध है । यदि होता है ऐसा माना जाये तो उनके असंयतपना कैसे हो सकता है ?

उत्तर - उक्त महापुरुषों में शुद्धात्मा उपादेय है, ऐसी भावना रूप निश्चय सम्यक्त्व (आगमभाषा की अपेक्षा) तो है किन्तु चारित्र मोहनीय कर्म के उदय होने से स्थिरता नहीं है, जब तक महाव्रत नहीं है तब तक असंयमी कहलाते हैं । शुद्धात्मा की अखंड भावना से रहित होते हुए भरत, सगर, राम, पांडव आदि निर्दोष परमात्मा अर्हन्त, सिद्धों के गुणस्तवन, वस्तुस्तवन रुप स्तोत्र आदि कहते हैं और उनके चरित्र पुराणादि सुनते हैं। तथा उनकी आज्ञा के आराधक तो महान् पुरुष आचार्य, उपाध्याय, साधु हैं उन्हें भक्तिपूर्वक आहार दानादि करते हैं एवं उनकी पूजा करते हैं। विषय-कषायरूप खोटे ध्यान को रोकने के लिए तथा संसार की स्थिति के नाश करने के लिए ऐसी शुभ क्रियायें करते हैं। इसलिए शुभराग के संबंध से सम्यग्दृष्टि हैं और इनके निश्चयसम्यक्त्व भी कहा जा सकता है क्योंकि वीतरागचारित्र के अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व का वह परम्परा से साधक है। वास्तव में विचार किया जाये तो गृहस्थावस्था में इन पुरुषों के सराग सम्यक्त्व ही है और जो सराग सम्यक्त्व है वह व्यवहार ही है, ऐसा जानो।

१२. शंका - (१) गृहस्थों को कभी कदाचित् होने वाला निश्चय सम्यग्दर्शन व्यवहार सम्यक्त्व है ?

शंका - (२) निज शुद्धात्मैवोपादेय इति रुचि रूपं निश्चय सम्यक्त्वं भवतीति बहुधा व्याख्यातं पूर्वा भवद्धिः इदानीं पुनः वीतराग चारित्राविनाभूतं निश्चय सम्यक्तं व्याख्यातमिति पूर्वापर विरोधः कस्मादिति चेत् ।

निज शुद्धात्मैवोपादेय इति रूचि रूपं निश्चय सम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां, तीर्थंकर परमदेव भरत सगर राम पाण्डवादीनां विद्यते, न च तेषां वीतराग चारित्रमस्तीति परस्पर विरोधः अस्ति चेत्तर्हि तेषामसयंतत्त्वं कथमिती पूर्वपक्षः ?

समाधान - तत्र परिहारमाह मतेषां शुद्धात्मोपादेयभावनारूपं निश्चय सम्यक्त्वं विद्यते परं किन्तु चारित्रमोहोऽदयेन स्थिरता नास्ति व्रत प्रतिज्ञाभंगो भवतीति तेन कारणेनासंयता वा भण्यंते । शुद्धात्मभावना च्युतः सन्तः भरतादयो निर्दोष परमात्मनाऽमर्हत्सिद्धानां गुणस्तवनस्तवस्तुस्वरूपस्तवनादिकं कुर्वन्ति तच्चरितपुराणादिकं च समाकर्णयन्ति तदाराधक पुरुषाणां आचार्योपाध्याय साधूनां विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चार्थं संसार स्थिततिच्छेदनार्थं च दान पूजादिकं कुर्वन्ति तेन कारणेन शुभरागयोगात सम्यग्दृष्टि भवन्ति । या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्वसंज्ञा वीतराग चारित्राविनाभूतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परंपरया साधकत्वादिति । वस्तुवृत्या तु तत् सम्यक्त्वं सराग सम्यक्त्वाख्यं व्यवहार सम्यक्त्वमेवेति भावार्थ :।(प.प्र./टी./२/१७)

उपर्युक्त टीका का सारांश यह है कि, निजशुद्धात्मा उपादेय है ऐसी रुचि या भावना रूप (सविकल्परुप) निश्चय सम्यक्त्व हैं । इसे व्यवहार ही कहते हैं । जैसे गृहस्थावस्था में तीर्थंकर परमदेव, भरत, सगर, राम, पाण्डव आदि को होता है, किन्तु उन्हें वीतराग चारित्र नहीं होता है । और यदि होता है तो वे असंयत कैसे है? इस आशंका का समाधान यह है कि - उन्हें (गृहस्थावस्था में) चारित्र मोह के उदय में स्थिरता नहीं रहती है । व्रत या प्रतिज्ञा टूटने का उन्हें भय रहता है इसलिये वे असंयमी हैं ।

यद्यपि उन्हें (गृहस्थ को) शुद्धात्मा उपादेय है, ऐसी रुचि या भावना या सविकल्प रूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं होता है तब पंचपरमेष्ठी की यथायोग्य भक्ति, उनके चरित्र ग्रंथों का सुनना, साधुओं की विशेष भक्ति, वैय्यावृत्ति, कषायरूप दुर्ध्यान से बचने के लिए, संसार स्थिति को छेदने के लिए दान, पूजादि को करते हैं। इस कारण से सराग

सम्यग्दृष्टि होते हैं । और उनका यह सराग सम्यक्त्व निर्विकल्प वीतराग निश्चय सम्यक्त्व वीतराग चारित्र के बिना नहीं होने वाले निश्चय सम्यक्त्व का परंपरा से साधक है । अत: भले ही उसे शुद्धात्म उपादेयरुप निश्चय सम्यक्त्व कहा जाता है ।

किंतु - **वस्तुवृत्या तु तत्सम्यक्त्वं सराग सम्यक्त्वाख्यं व्यवहार सम्यक्त्व मेवेति भावार्थः ।** **(प.प्र.टी. २/१७)**

वास्तव में वह निश्चय (नाम से कहा जाने वाला) सम्यक्त्व सराग सम्यक्त्व नाम से कथित व्यवहार सम्यक्त्व ही है । ऐसा सर्वत्र जानना चाहिए ।

''यद्यपि षड्द्रव्यपञ्चास्तिकाय सप्ततत्व नव पदार्थाः साध्यसाधक भावेन निश्चय सम्यक्त्व हेतुत्वाद् व्यहारेण सम्यक्त्वं भवति, तथापि निश्चयेन वीतराग परमानन्दैकस्वभावः शुद्धात्मोपादेय इति रुचिरूप परिणाम परिणत शुद्धात्मैव निश्चय सम्यक्त्वं भवति ।'' **(पं.सं. १/१५९)**

१३. शंका - (प.प्र.टी. गाथा ९३-९४) में कहा था कि **''स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचि कारणान्निश्चयसम्यक्त्वं भवति''** अपनी शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचि करने से निश्चय सम्यग्दर्शन होता है । किन्तु यहाँ कहते हो कि **''निश्चयेन वीतराग परमानंदैक स्वभावः शुद्धात्मोपादेय इति रूचि रूप परिणाम परिणत शुद्धात्मैव निश्चय सम्यक्त्वं भवति ।''** ''निश्चय से एक वीतराग परमानंदैक स्वभाव वाली शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचि रूप परिणाम से परिणत शुद्धात्मा ही निश्चय सम्यक्त्व है ।'' ऐसा कह रहे हो (दोनों में अंतर है) अर्थात् शुद्धात्मा उपादेय है ऐसी रुचि से परिणत शुद्धात्मा निश्चय सम्यक्त्व है दोनों में अंतर है ।

समाधान - जब तक शुद्धात्मा उपादेय है ऐसी मात्र भावनात्मक रुचि रहती है तब तक वह वास्तविकता में सराग सविकल्प रुप व्यवहार सम्यग्दर्शन ही है । उसे मात्र उपचार से निश्चय सम्यग्दर्शन यह कह दिया जाता है और यह गृहस्थावस्था में भी सम्भव है, किन्तु यह वास्तविकता में निश्चय सम्यक्त्व नहीं है। (देखें सम्यक्चारित्र प्रकरण में शंका-समाधान नं १९) और जब शुद्धात्मा उपादेय है ऐसी रुचि और परिणति (ध्यान रुप लीनता वीतराग निर्विकल्प धर्म/शुक्ल) जब मुनियों के होती है तब उन्हें वास्तविक निश्चय सम्यग्दर्शन होता है । यद्यपि यह अभेद रत्नत्रयात्मक अवस्था ही है।

(४) सम्यग्ज्ञान

(१) **शंका** - सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं ?

**समाधान - संसय विमोह विब्भम विवज्जियं अप्पपर सरूवस्स ।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेय भेयं तु ॥ (द्र.सं.गा. ४२)**

आत्मस्वरूप और अन्य पदार्थ के स्वरूप का जो संशय, विमोह और विभ्रम/विपर्यय रूप दोषों से रहित जानना सम्यग्ज्ञान है । अथवा

**नय प्रमाण विकल्प पूर्वको जीवाद्यर्थ याथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम् ।
(रा.वा. १/१/२/४/३)**

नय व प्रमाण के विकल्प पूर्वक जीवादि पदार्थ का यथार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान है । वह सब आगम कथित श्रुतज्ञान अध्यात्म की अपेक्षा व्यवहार ज्ञान ही है ।

२. **शंका** - सम्यग्ज्ञान के निश्चय व व्यवहार से भी क्या भेद हैं ?

समाधान - हाँ, निश्चय सम्यग्ज्ञान व व्यवहार सम्यग्ज्ञान ऐसे सम्यग्ज्ञान के दो भेद हैं ।

३. **शंका** - सम्यग्ज्ञान के कितने भेद हैं ?

समाधान - सम्यग्ज्ञान के पांच भेद हैं । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान ।

४. **शंका** - श्रुतज्ञान किसे कहते है और उसके मुख्य कितने भेद हैं ?

**समाधान - श्रुतज्ञानावरण क्षयोपशमान्नोइंद्रियावलम्बनाच्च.. ।
(वृ. द्र. सं. टी. ५/१३/१५)**

तथा श्रुतज्ञान विषयोऽर्थः अर्थम् । (स.सि. २/२१/१७८/६)

श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो हो वह श्रुतज्ञान है । अथवा श्रुतज्ञान का विषयभूत अर्थश्रुतज्ञान है । तथा इसके आगमिक दृष्टि से दो भेद हैं । (१) द्रव्यश्रुत (२) भावश्रुत

५. **शंका** - आगमिक दृष्टि से द्रव्य व भाव श्रुतज्ञान किसे कहते है ?

समाधान -अंगबाह्य सामायिकादिचतुर्दश प्रकीर्णक भेदद्रव्यभावात्मकश्रुतं पुद्गलद्रव्यरूपं वर्णपदवाक्यात्मकं द्रव्यश्रुतं, तच्छ्रवणसमुत्पन्नश्रुतज्ञानपर्याय रूपं भावश्रुतं । (गो.जी./जी.प्र. ३४८/७४४/१५)

अर्थात् आचारांग आदि ग्यारहअंग, उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्व और चकार से सामायिकादि १४ प्रकीर्णक स्वरूप द्रव्युश्रुत जानना और इनके सुनने से उत्पन्न हुआ जो ज्ञान सो भाव श्रुत जानना ।

पुद्गल द्रव्य स्वरूप अक्षर पदादिक रूप से द्रव्यश्रुत है और उनके सुनने से श्रुतज्ञान की पर्याय रूप जो उत्पन्न हुआ ज्ञान सो भावश्रुत है ।

६. शंका - क्या आगमिक दृष्टि से द्रव्यश्रुत के बल से भावश्रुत का संवेदन होता है ?

समाधान - हाँ, नयचक्र में एक क्षेपक गाथा में कहा है । यथा -

दव्वसुयादो भावं तत्तो उदयं हवेइ संवेदं ।
तत्तो संवित्ति खलु, केवलणाणं हवे तत्तो ॥(वृ.न.च. २८७)

अर्थात् द्रव्यश्रुत के अभ्यास से भावश्रुत होता है और उससे बाह्य और आभ्यंतर संवेदन होता है और उससे शुद्धात्मा की संवित्ति होती है और उससे केवलज्ञान होता है।

७. शंका - आध्यात्मिक दृष्टि से व्यवहार सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं ?

समाधान - तत्र जिन प्रणीत हेयोपादेयतत्त्व परिच्छित्तिरेव सम्यग्ज्ञानम्। जिनप्रणीत हेयोपादेय तत्त्वों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है । **(नि.सा./ता.वृ. ५१)**

८. शंका - आध्यात्मिक दृष्टि से व्यवहार सम्यग्ज्ञान के कितने भेद हैं ?

समाधान - सप्ततत्त्वनवपदार्थेषुमध्येनिश्चयनयेन स्वकीयशुद्धात्मद्रव्यं ... उपादेयः । शेषं च हेयमिति संक्षेपण हेयोपादेयभेदेन द्विधा व्यवहारज्ञानमिति। (वृ. द्र. सं. टी./४२/१४४)

सात तत्त्व, नव पदार्थों में निश्चय नय से अपना शुद्धात्म द्रव्य ही उपादेय है । इसके सिवाय शुद्ध, अशुद्ध पर जीव, अजीव आदि सभी हेय हैं । इस प्रकार संक्षेप से हेय तथा उपादेय भेदों से व्यवहार ज्ञान दो प्रकार का हैं ।

९. शंका - आध्यात्मिक दृष्टि से निश्चय ज्ञान किसे कहते है ?

समाधान - निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानमेव निश्चयज्ञानं भण्यते । (वृ. द्र. सं. टी. ४२/१४५)

अर्थात् निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान ही निश्चय ज्ञान है ।

१०. शंका - स्वसंवेदन ज्ञान के क्या सरागी व वीतरागी की अपेक्षा दो भेद हैं ?

समाधान - हाँ, पात्र भेद की अपेक्षा स्वसंवेदन ज्ञान भी दो प्रकार का हैं। (१) सराग (२) वीतराग

यथा - स्वसंवेदन ज्ञाने वीतराग विशेषणं किमर्थमिति पूर्वपक्षः । परिहारमाह विषयानुभव रूप स्वसंवेदन ज्ञानं सरागमपि दृश्यते तन्निषेधार्थमित्यभिप्रायः । (प.प्र.टी. १२)

११. शंका - स्वसंवेदन ज्ञान में वीतराग विशेषण किस लिये जोड़ा है ?

समाधान - क्योंकि विषयानुभव रूप स्वसंवेदन ज्ञान तो सरागियों में भी देखा जाता है । अतः उस के निषेध के लिये किया है कि निर्विकल्पध्यान में स्थित मुनिजनों को उस काल में वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान ही होता है । सराग स्वसंवेदन ज्ञान नहीं ।

१२. शंका - क्या वीतराग निर्विकल्प ध्यान में इच्छापूर्वक विकल्पों का अभाव है या पूर्णतः विकल्पों का अभाव है ?

समाधान - निश्चयनयेन पुनर्वीतराग निर्विकल्प समाधिकाले बहिरुपयोगो यद्यप्यनीहितवृत्त्या निरस्तस्तथापीहापूर्वक विकल्पाभावाद् गौणत्वमिति कृत्वा स्वसंवेदन ज्ञानमेवज्ञान मुच्यते । (प.प्र. २/२९/१४९/२)

निश्चय नय से वीतराग निर्विकल्प समाधि के समय यहाँ ही अनीहित दृष्टि से उपयोग में से बाह्यपदार्थों का निराकरण किया जाता है, फिर भी इच्छापूर्वक विकल्पों का अभाव होने से गौण करके वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान को ही ज्ञान कहते हैं।

१३. शंका - क्या निश्चय भावश्रुतज्ञानरुप वीतराग स्वसंवेदन में केवलज्ञानवत् आत्मा प्रत्यक्ष होती है ?

समाधान - यथा कोऽपि देवदत्त आदित्योदयेन दिवसे पश्यति, रात्रौ किमपि प्रदीपेनेति । तथादित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवस स्थानीय मोक्षपर्याये भगवानात्मानं पश्यति । संसारी विवेकिजनः पुनर्निशास्थानीयसंसारपर्याये प्रदीप स्थानीयेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिना निजात्मानं पश्यतीति (प्र.सा./ ता.वृ. ३३ पृ. ७८)

जैसे कोई देवदत्त सूर्योदय के द्वारा दिन में देखता है और दीपक के द्वारा रात्रि को कुछ देखता हैं । उसी प्रकार मोक्ष पर्याय में भगवान् आत्मा को केवलज्ञान के द्वारा देखते हैं । संसारी विवेकी जन संसारी पर्याय में रागादि विकल्प रहित समाधि के द्वारा निजात्मा को देखते है ।

१५. शंका - निश्चय भावश्रुतज्ञान प्रत्यक्ष कैसे ?

समाधान - यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया रागादि विकल्परहितं स्वसंवेदनरूपं भावश्रुतज्ञानं शुद्धनिश्चयनयेन परोक्षं भण्यते, तथापि इंन्द्रिय मनोजनित सविकल्प ज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षम् । तेन कारणेन आत्मा स्वसंवेदन ज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षो भवति, केवलज्ञानापेक्षयापुनः परोक्षोऽपि भवति । सर्वथा परोक्ष एवेति वक्तुं नायाति । किंतु चतुर्थकालेऽपि केवलिनः किमात्मानं हस्ते गृहीत्वा दर्शयन्ति। तेऽपि दिव्यध्वनिना भणित्वा गच्छन्ति । तथापि श्रवणकाले श्रोतृणां परोक्ष एव पश्चात्परमसमाधिकाले प्रत्यक्षो भवति । तथा इदानीं कालेऽपीति भावार्थः । (स. सा. /ता. वृ. १९०)

यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा रागादि विकल्परहित स्वसंवेदन रूप भाव श्रुतज्ञान शुद्ध निश्चय से परोक्ष कहा जाता है तथापि इन्द्रिय मनोजनित सविकल्प ज्ञान की अपेक्षा प्रत्यक्ष है । इस प्रकार आत्मा स्वसंवेदन ज्ञान की अपेक्षा प्रत्यक्ष होता हुआ भी केवलज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष है । सर्वथा परोक्ष ही है ऐसा कहना नहीं बनता। चतुर्थकाल में क्या केवली भगवान् आत्मा को हाथ में लेकर दिखाते हैं । वे भी तो दिव्यध्वनि के द्वारा कहकर चले ही जाते हैं । फिर भी सुनने के समय जो श्रोता के लिए परोक्ष है, वही पीछे परम समाधि काल में प्रत्यक्ष होता है । इसी प्रकार वर्तमान काल में भी समझना ।

स्वसंवेदन ज्ञानरूपेन यदात्म ग्राहकं भावश्रुतं तत्प्रत्यक्षं यत्पुनर्द्वादशांग चतुर्दशपूर्व रूप परमागम संज्ञं तच्च मूर्तामूर्तोभय परिच्छित्तिविषये व्याप्तिज्ञान रुपेण परोक्षमपि केवलज्ञान सदृशमित्यभिप्रायः। प.का./ता.वृ./९९/१५९

स्वसंवेदन ज्ञानरूप से आत्मग्राहक भाव श्रुतज्ञान है । वह परोक्ष है और जो बारह अंग, चौदह पूर्व रूप परमागम नाम वाला ज्ञान है वह मूर्त, अमूर्त व उभयरुप अर्थो के जानने के विषय में अनुमान ज्ञान के रुप में परोक्ष होता हुआ भी केवलज्ञान सदृश है

१६. शंका - क्या निश्चय भावश्रुतज्ञान (वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन रुप) भी होता है?

समाधान - हाँ, अध्यात्मदृष्टि से निश्चय भावश्रुतज्ञान भी होता है ।

यथा -निश्चयभावश्रुतज्ञानं तच्च शुद्धात्माभिमुख स्वसंवित्तिस्वरूपं स्वसंवित्त्याकारेण सविकल्पमपीन्द्रियमनोजनितरागादिविकल्पजालरहित्वेन निर्विकल्पम् । अभेद नयेन तदेवात्मशब्दवाच्यं वीतरागसम्यक्चारित्राविनाभूतं केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमपि संसारिणा क्षायिकज्ञानाभावात् क्षायोपशमिकमपि प्रत्यक्षमभिधीयते । (वृ. द्र. सं. टी. ५, पृ. १३, पं. ९)

निश्चय भावश्रुतज्ञान है वह शुद्धात्माभिमुख स्वसंवित्ति स्वरुप है । परंतु इंद्रिय मनोजनित रागादिविकल्प जाल से रहित होने के कारण निर्विकल्प है । अभेद नय से वही ज्ञान आत्म शब्द से कहा जाता है तथा वह वीतराग सम्यक्चारित्र के बिना नही होता है । वह ज्ञान यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष है । तथापि संसारियों को क्षायिक ज्ञान की प्राप्ति न होने से क्षायोपशमिक होने पर भी प्रत्यक्ष कहलाता है।

१७. शंका - व्यवहारज्ञान व निश्चय ज्ञान में साध्य-साधक भाव कैसे घटित होता है ?

समाधान - विकल्परुप व्यवहार ज्ञानेन साध्यम् निश्चय ज्ञानम् ।

अभेद रत्नत्रयात्मकं यद्भाव श्रुतं तदेवोपादेयभूतपरमात्मतत्त्व साधकत्वान्नि श्चनयेनोपादेयं तत्साधकं बहिरंग तु व्यवहारेणेति तात्पर्यम् ।
(पं. का. ता. वृ. गा. ४३/८६)

अभेद रत्नत्रयात्मक जो भाव श्रुतज्ञान है वही उपादेय भूत परमात्मतत्त्व का साधक होने से निश्चय से उपादेय है और उसका साधक बहिरंग श्रुतज्ञान व्यवहार उपादेय है, ऐसा तात्पर्य है ।

१८. शंका - स्वसंवेदन ज्ञान के पर्यायवाची नाम क्या-क्या है ?

समाधान - चेतनानुभूत्युपलब्धि वेदनानामेकार्थत्त्वात् ।
(पं.का./ता.वृ. ३९/७९)

चेतना, अनुभव, उपलब्धि और वेदना एकार्थवाची हैं ।

स्वसंवेदन .... आत्मानुभव.. **(त.अ. १६१)**

स्वसंवेदन और आत्मानुभव एकार्थवाची हैं ।

१९. शंका - क्या श्रुतज्ञान लब्धि व भावना रूप भी होता है ?

समाधान - सुदणाणं पुण णाणी भणन्ति लद्धी य भावणा चेव ।
उवओगणय वियप्पं णाणेणय वत्थु अत्थस्स ॥
(पं.का./क्षे. ४३-२/८६)

ज्ञानी को श्रुतज्ञान लब्धि व भावना रूप से दो-दो प्रकार का होता है । अथवा प्रमाण व नय के भेद से दो प्रकार का होता है ।

२०. शंका - क्या निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान मात्र मुनियों को ही होता है ?

समाधान - वेद्यत्वं वेदकत्त्वं च यत् स्वस्य स्वेन योगिनः ।

तत्स्व संवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभवंनाम ॥ (त. अ. १६१)

स्वसंवेदन आत्मा के उस साक्षात् दर्शन रुप अनुभव का नाम है । जिसमें योगी की आत्मा स्वयं ही ज्ञेय तथा ज्ञायक भाव को प्राप्त होती है ।

२१. शंका - प्रवचनसार में कहा है कि जो गृहस्थ व मुनि स्वसंवेदनज्ञान से अपनी आत्मा ध्याता है उसकी मोह ग्रंथि नष्ट हो जाती है ? तो क्या गृहस्थ के भी ध्यान होता है ?

समाधान - हाँ, ऐसा कहा है कि -

ध्यायति यः कर्ता । कम् ? निजात्मानम् । किं कृत्वा पूर्वम् ? स्वसंवेदन ज्ञानेन ज्ञात्वा । ..... पुनरपि, कथंभूतः ? साकारः सविकल्पो गृहस्थः अनाकारोनिर्विकल्पस्तपोधनः ।

य एवं गुण विशिष्टः क्षपयति स मोह दुर्ग्रन्थिम् ॥
(प्र.सा./ता.वृ. १९४)

जो गुणों से युक्त सविकल्प गृहस्थ या निर्विकल्प तपोधन (मुनि) स्वसंवेदन ज्ञान से जानकर अपनी आत्मा को ध्याता है उसकी मोह ग्रंथि नष्ट हो जाती है। यह स्पष्ट बात कही है कि सविकल्प गृहस्थ और निर्विकल्प मुनि स्वसंवेदनज्ञान से जानकर अपनी आत्मा को ध्याता है यानी सविकल्प गृहस्थ सराग रूप से सविकल्प ही अपनी आत्मा को सविकल्प, सराग धर्म ध्यान से ही तथा निर्विकल्प मुनि (वीतराग) निर्विकल्प स्वसंवेदन से ही अपनी आत्मा का वीतराग निर्विकल्प धर्म ध्यान से ही ध्यायेगा तभी उसकी मोह ग्रंथि नष्ट होगी। तात्पर्य यह है कि गृहस्थों को सविकल्प सराग स्वसंवेदन तथा सराग सविकल्प व्यवहार धर्म ध्यान होता है और अप्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती मुनियों को वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान तथा वीतराग निर्विकल्प निश्चय धर्म ध्यान होता है।

(५) सम्यक्चारित्र

सम्यग्दर्शन गुण ही एक ऐसा गुण है कि जिसके होने पर सभी गुण सम्यक्पने को प्राप्त हो जाते हैं तथा जिसके न होने पर सभी गुण मिथ्यापने को प्राप्त होते है । अत: सम्यग्दर्शन के होते ही अनंतानुबंधी कषायों के अभाव से होने वाले बाह्य आभ्यंतर दोनों प्रकार से सम्यक्त्वाचरण चारित्र प्राप्त होता है किन्तु वह चरणानुयोग द्वारा कथित सकल या विकल रुप नहीं है तथा करणानुयोग द्वारा कथित औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक भाव रूप नहीं है तो फिर साध्य रूप निश्चय या वीतराग चारित्र कैसे हो जाता है अर्थात् नहीं होता हैं तथा कषायों की वासना काल में भी यह कोई अंतर नहीं डालता है ।

१. शंका - सम्यक्चारित्र किसे कहते हैं ?

समाधान - (चरतियाति तेन हित प्राप्तिं अहित निवारणं चेति चारित्रम् । चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्रं सामायिकादिकम् । (भ.आ.वि. ८/४१/ ११) जिससे हित की प्राप्ति और अहित का परिहार होता है उसे चारित्र कहते हैं । अथवा सज्जन जिसका आचरण करते हैं उसको चारित्र कहते हैं । जिसके सामायिकादि भेद हैं ।

२. शंका - चारित्र के कितने भेद हैं ?

समाधान - सामान्य से चारित्र मोह के उपशम, क्षय, क्षयोपशम से होने वाली आत्मविशुद्धि की दृष्टि से चारित्र एक है । बाह्य और आभ्यन्तर की निवृत्ति अथवा व्यवहार, निश्चय की अपेक्षा से दो प्रकार का हैं अथवा प्राणिसंयम व इन्द्रिय संयम की अपेक्षा से दो प्रकार का हैं । औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन प्रकार का हैं अथवा उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य विशुद्धि के भेद से तीन प्रकार का हैं तथा छद्मस्थों का सराग व वीतराग तथा केवलियों का सयोग व अयोग इस तरह चार प्रकार का हैं । सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात के भेद से पाँच प्रकार का हैं । इसी तरह विविध निवृत्ति रूप परिणामों की दृष्टि से संख्यात, असंख्यात और अनंत विकल्प रूप होता हैं ।
(जै.सि.को. २/२८२)

३. शंका - व्यवहार चारित्र किसे कहते है ?

समाधान - असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
(द्र.सं. ४५)

अशुभ कार्यों से निवृत्ति होना और शुभ कार्यों में प्रवृत्ति होना व्यवहार चारित्र है।

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुन सेवा परिग्रहाभ्यां च ।

पापं प्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रं ।(र. क. श्रा. ५७)

गाथा है - हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन व परिग्रह इन पाँचों पापों की प्रणालियों से विरक्त रहना व्यवहार चारित्र है ।

णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वह णिच्चं पडिकम्मदि यो य ।

णिच्चं आलोचेयइ सो हु चारित्रं हवइ चेया । (स.सा. ३८६)

जो सदा प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना करता है, वह आत्मा ही वास्तव में व्यवहार सकल चारित्र है ।

४. शंका - सराग चारित्र किसे कहते हैं ?

समाधान -मूलुत्तर समणण्णुणा धारण कहणं च पंच आयारो ।

सो ही तहव सणिट्ठा सराय चारिया हवइ एवं ॥

(वृ.न.च./३३४)

जो श्रमण मूल व उत्तरगुणों को धारण करता है तथा पंचाचारों का कथन करता है और आठ प्रकार की शुद्धियों में निष्ठ रहता है वह उसका सराग चारित्र है ।

प. शंका - क्या व्यवहार चारित्र व सराग चारित्र एकार्थवाची हैं ?

समाधान - हाँ, एकार्थवाची हैं । यथा -

शुद्धात्मभावना सहकारिभूतं किमपि प्रासुकाहारज्ञानोपकरणादिकं गृह्णातीत्यपवादो व्यवहार नय एकदेशपरित्यागस्तथा चापहृतसंयमः सराग चारित्रं शुभोपयोग इति यावदेकार्थः । (प्र.सा./ता.वृ. २३०/३१५/१०)

शुद्धात्मभावना के सहकारी भूत जो कुछ प्रासुक आहार या ज्ञानादि उपकरणों को ग्रहण करता है वह अपवाद (मार्ग) है । व्यवहार या व्यवहार चारित्र, एकदेश परित्याग, अपहृत संयम, सराग चारित्र या शुभोपयोग कहलाता है । यह सब एकार्थवाची हैं ।

६. शंका -यह सकल चारित्र करणानुयोग की अपेक्षा से कितने प्रकार का होता है?

समाधान - सयल चारित्तं तिविह खओव समियं ओवसमियं खाइयं चेदि । (ध.पु. ६/१, ६-८, १४/२८१/१)

सकलचारित्र तीन प्रकार का होता हैं । (१) क्षायोपशमिक (२) औपशमिक (३) क्षायिक/अथवा सराग (व्यवहार) तथा वीतराग (निश्चय)

७. शंका - क्या बाह्य एवं आभ्यंतर दोनों चारित्र सराग चारित्र ही हैं ?

समाधान - हाँ, दोनों सराग चारित्र ही हैं । **यथा- शुभोपयोगलक्षणं सराग चारित्राभिधानं भवति । तत्र योऽसौ बहिर्विषये पंचेन्द्रियविषयादिपरित्यागः स उपचरितासदभूतव्यवहारेण, यश्चाभ्यन्तरे रागादिपरिहारः स पुनरशुद्धनिश्चयेनेति नयविभागो ज्ञातव्यः ।एवं निश्चयचारित्रसाधकं व्यवहारचारित्रंव्याख्यातमिति। (वृ.द्र.सं.टी. ४५/१५५/४)**

शुभोपयोग लक्षण वाला व्यवहार चारित्र होता है । वहाँ बाह्य विषयों में जो पांचों इन्द्रियों के विषयादि का त्याग है । वह उपचरित असद्‌भूत व्यवहार नय से चारित्र है और जो अंतरंग में रागादि का त्याग है वह अशुद्ध निश्चय नय से चारित्र है । इस तरह नय विभाग जानना चाहिए ।

८. शंका - निश्चय चारित्र किसे कहते हैं ?

समाधान -**(१) बहिरब्भंतर किरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं ।**
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्म चारित्तं ॥
(द्र.सं. ४६)

ज्ञानी जीवों के जो संसार के कारणों को नष्ट करने के लिए बाह्य और आभ्यंतर क्रियाओं का निरोध होता है वह उत्कृष्ट सम्यग्चारित्र है ।

(१) चारितं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ (प्र.सा.७)

चारित्र वास्तव में धर्म है । जो धर्म है वह साम्य है । साम्य, मोह, क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम है ।

(२) स्वरूपे चरणं चारित्रं स्व समय प्रवृत्तिरित्यर्थः ।
तदेव वस्तु स्वभावत्व-वाद्धर्मः । (प्र.सा.त.प्र. ७)

स्वरूप में चरण करना स्व स्वरूपाचरण चारित्र है । स्वसमय में प्रवृत्ति करना इसका अर्थ है । यही (आत्म) वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है ।

स्वस्वरूपाविचल स्थिति रुपं सहज निश्चयचारित्रम् (नि.सा./ता.वृ./५५)
निजस्वरूप में अविचल स्थित रुप सहज निश्चय चारित्र है ।

९. शंका - निश्चय चारित्र, निश्चय नय और शुद्धोपयोग क्या एकार्थवाची हैं ?

समाधान - हाँ, एकार्थवाची हैं - यथा

शुद्धात्मनः सकाशादन्यद्बाह्याभ्यंतर परिग्रहरुपं सर्व त्याज्य मित्युत्सर्गो निश्चयनयः, सर्व परित्यागः परमोपेक्षासंयमो वीतराग चारित्रं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः । (प्र.सा./ता.वृ.२३०)

शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्य बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहरूप पदार्थों का त्याग करना उत्सर्ग मार्ग है । उसे ही निश्चय नय, सर्वपरित्याग, परमोपेक्षासंयम, वीतराग चारित्र व शुद्धोपयोग कहते हैं । ये सभी एकार्थवाची हैं ।

१०. शंका - निश्चय-व्यवहार चारित्र में व सराग वीतराग चारित्र में तथा शुभोपयोग-शुद्धोपयोग में पारस्परिक क्या संबंध हैं ?

समाधान- व्यवहार चारित्रेण साध्यं निश्चयचारित्रं ।
(द्र.सं. ४६)

वीतराग चारित्रस्य साधकं सराग चारित्रं । (वृ. द्र.सं. गा. ४५)

पारम्पर्येण शुद्धोपयोग साधक ... शुभोपयोगोः (वृ. द्र.सं.टी. ३४)

अर्थात् व्यवहार चारित्र, सरागचारित्र व शुभोपयोग साधक है, निश्चय चारित्र, वीतरागचारित्र व शुद्धोपयोग ये सभी साध्य रुप हैं । अतः इनका परस्पर साध्य-साधक संबंध है ।

११. शंका - देश संयम किसे कहते हैं तथा उसके पर्यायवाची नाम कौन-कौन से हैं ?

समाधान - चरणानुयोग की अपेक्षा जो वर्णन रत्नकरण्ड श्रावकाचार में है वह इस प्रकार है ।

अभिसंधिकृताविरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति । ....(र. क. श्रा. ८६)

पाँचों पापों व इन्द्रिय विषयों का प्रतिज्ञापूर्वक किया गया त्याग व्रत कहलाता है । तथा उन पापों के एकदेश त्याग को देशव्रत कहते हैं । करणानुयोग की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन हो जाने के पश्चात् जो देशचारित्रघाति अप्रत्याख्यान कषाय के अभाव से हो वह देशचारित्र होता है ।

१२. शंका - क्या चतुर्थगुणस्थान में भी कोई चारित्र होता है ?

समाधान - हाँ, होता है, यथा -

जिण णाण दिठ्ठी सुद्धं पढमं सम्मत्तचरण चारित्तं ।

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्त दोस संकाई ।

परिहरि सम्मत्त मला जिण भणिया तिविह जोएण ॥

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढ दिठ्ठीय ।

उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणाय ते अठ्ठ ।

तं चेव गुण विसुद्धं जिण सम्मत्तं सुमुक्ख ठाणाय ।

जं चरइ णाण जुत्तं पढमं सम्मत्त चरण चारित्तं ॥

सम्मत्तचरण सुद्धा ।... (चा.पा.,गा. ५-९)

सर्वज्ञ देव के ज्ञान और दर्शन से शुद्ध सम्यक्त्वाचरण चारित्र है । ऐसा जानकर हे भव्य जीवों ! जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए तथा सम्यक्त्व में मल उत्पन्न करने वाले शंका आदि मिथ्यात्व के दोषों का तीनों योगों से परित्याग करों ।

(१) निःशंकित (२) निःकांक्षित (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढ़दृष्टि (५) उपगूहन (६) स्थितिकरण (७) वात्सल्य (८) प्रभावना, ये आठ सम्यक्त्व के गुण हैं ।

निःशंकादि गुणों से विशुद्ध वह सम्यक्त्व ही जिन सम्यक्त्व कहलाता है तथा जिन सम्यक्त्व ही उत्तम मोक्ष रुप स्थान की प्राप्ति के लिए निमित्त भूत है । ज्ञान सहित जिन सम्यक्त्व का जो मुनि आचरण करते हैं वह पहला सम्यक्त्वाचरण नामक चारित्र है । जो सम्यक्त्वाचरण से शुद्ध है ।

१३. शंका - सम्यक्त्वाचरण चारित्र देशचारित्र है या सकलचारित्र ?

समाधान - सम्यक्त्वाचरण चारित्र न तो सकल चारित्र ही है और न ही वह देशचारित्र है । क्योंकि दोनों के अभाव में भी वह होता है ।

१४. शंका - प्राय: आचार्यों ने अष्टपाहुड के अलावा चारित्र के मात्र सकल-विकल ये दो ही भेद गिनाये हैं । सम्यक्त्वाचरण नामक तीन क्यों नहीं गिनाये ?

समाधान - चारित्र संज्ञा को प्राप्त होने वाला तो मात्र (पाँच) सकल संयम ही है । फिर भी एकदेश चारित्र को भी देशचारित्र कह दिया जाता है किन्तु सम्यक्त्वाचरण में तो एकदेश भी प्रतिपरक पापों का त्याग नहीं है तथा करणानुयोग की अपेक्षा औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक चारित्र भावों में कहीं भी सम्यक्त्वाचरण चारित्र नामक चारित्र नहीं गिनाया है । अत: वह मात्र सम्यक्त्व के आठ अंग रुप आचरण को बनाये

रखता है इसलिए उपचार से चारित्र कह दिया जाता है किन्तु करणानुयोग, चरणानुयोग की दृष्टि में वह चारित्र संज्ञा को प्राप्त नहीं होता है ।

१५. शंका - सम्यक्त्वाचरण चारित्र को क्या स्वरुपाचरण चारित्र कह सकते हैं ?

समाधान - नहीं, ऐसा किसी भी आचार्य प्रणीत आगम में नहीं कहा, तो फिर हम ऐसे आगम विहीन वाक्य को क्यों कहे, क्योंकि सम्यक्त्वाचरण चारित्र सराग नामक व्यवहार चारित्र है। जबकि स्वरूपाचरण वीतराग एवं निश्चय चारित्र है । यथा -

स्वरूप विश्रांति लक्षणे परम वीतराग चारित्रे ।(नि.सा./ता.वृ. १५२)

स्वरूप में विश्रांति सो ही परमवीतराग चारित्र है ।

१६. शंका - किन्तु अन्य जगह विद्वानों ने तो गिनाया है ?

समाधान - पं. राजमल जी ने पंचाध्यायी में ऐसा कह दिया है अतः उसके अध्येताओं में ऐसी मान्यता आ गई । पर जैनाचार्य प्रणीत आगम ग्रंथों में ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिला । अतः वह मान्य नहीं है ।

१७. शंका - अनंतानुबंधी कषाय चारित्र मोह की प्रकृति है अतः उसके अभाव से क्या मात्र बाह्य चारित्र ही होता है ?

समाधान - सम्यक्त्व के आठ अंग रुप बाह्य आचरण भी होता है (देखे शंका नं. २) तथा इसके साथ आभ्यंतर में जो निवृत्ति रुप विशुद्धि अंश है ऐसा आभ्यंतर सम्यक्त्वाचरण चारित्र भी होता है । किन्तु वह भी निश्चय से सराग ही है । क्योंकि पूर्व में देख चुके हैं कि बाह्य एवं आभ्यंतर चारित्र को सराग व व्यवहार चारित्र ही कहते हैं।(देखो शंका नं. ७)इसके होने पर शुद्ध वीतराग चारित्र को पाने का बारंबार भाव तो होता है जो कि परंपरा से निश्चय का साधक वा कारण है।

शंका - येनांशेन सुदृष्टिस्तेनां शेनास्य बंधनं नास्ति ।।११२।।

येनांशेन ज्ञानं, बंधनं नास्ति ।। २१३।।

येनांशेन चारित्र बंधनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति । (पु.सि. २१२-२१४)

उपर्युक्त गाथानुसार जितने अंश में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र है उतने अंश में बंध नहीं होता है तथा जितने अंश में राग है उतने अंश में बंध होता है। अतः अविरत सम्यग्दृष्टि को भी मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी राग के अभाव में होने वाले सम्यक्त्वाचरण रुप चारित्र संबंध नहीं होता है क्या ?

समाधान - यह सत्य है कि जितने अंश में रागादि का अभाव निवृत्ति होती है तथा इसी के बल से ही ४१ प्रकृतियों का संवर होता है उतने अंश में बंध नहीं होता है किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि उतने अंश में उसके शुद्धोपयोग या वीतराग या निश्चय चारित्र होता है । क्योंकि यदि उतने अंश में वीतराग निश्चय चारित्ररूप शुद्धोपयोग माना जाये तो फिर वह साधन के बिना भी साध्य सिद्ध हो गया और यदि यह संभव रहा तो फिर साधन का जिन उपदेश व्यर्थ ठहरता है । ध्यान रुप शुद्धोपयोग फिर स्थाई मानना पड़ेगा । क्योंकि मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषाय का अभाव दीर्घकाल भी रह सकता है पर निश्चय ध्यान उतने समय तक नहीं रह सकता है । ध्यान की सीमा अन्तर्मुहूर्त ही है ।

१९. शंका - ऐसा क्या कारण है कि उक्त निश्चय ध्यान अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में नहीं हो सकता है ? और ऐसा क्या कारण है कि अप्रमत्तादि (सप्तम) गुणस्थानवर्ती मुनियों को वह ध्यान हो सकता है ?

समाधान - इसका मुख्य कारण अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय सर्वघाति है

जो निश्चय एवं व्यवहार दोनों प्रकार के सकल चारित्र का पूर्ण रूप से घात करती है । संज्वलन कषाय देशघाती है । यह सकल संयम का तो घात नहीं करती है किन्तु इसका तीव्रोदय वीतराग निर्विकल्प चारित्र, निश्चय चारित्र अथवा शुद्धोपयोग दशा का घात करता है इसलिए संज्वलन के तीव्रोदय में वीतराग निर्विकल्प चारित्र नहीं हो सकता हैं किन्तु जब वह कषाय मंद होती है तभी अप्रमतादि गुणस्थान होते हैं तभी उक्त निश्चय चारित्र, ध्यान आदि होते है । इन गुणस्थानों का समय मात्र अन्तर्मुहूर्त है तथा वीतराग निर्विकल्प ध्यान आदि का भी काल अन्तर्मुहूर्त है ।

२०. शंका - सम्यग्दर्शन के पश्चात् अविरत सम्यग्दृष्टि के चारित्र गुण की पर्याय क्या मिथ्यारूप ही रहती है या फिर सम्यक् रुप हो जाती है ?

समाधान - नहि चारित्र मोहोदय मात्रात् भवत् चारित्रं दर्शनं चारित्र मोहोदय जनितात् अचारित्रात् अभिन्नं एवं इति साधयितुं शक्यं, सर्वत्र कारण भेदस्यफलाभेदकत्वा प्रसक्तेः । (श्लो.वा. १/१/१०५)

अर्थात् केवल चारित्र मोह के उदय से उपजने वाले असंयत सम्यक्त्वी के चारित्र को दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय दोनों के उदय से उपजने वाले अचारित्र से अभिन्न ही है ऐसा सिद्ध करना शक्य नहीं है । क्योंकि सर्वत्र भिन्न-भिन्न कारणों से

होने वाले कार्यों को अभेद कहने का प्रसंग आयेगा । अतः यह सत्य है वह अचारित्र (चारित्र गुण के अभाव) रुप या मिथ्याचारित्र रुप नहीं है । इसलिये जैनाचार्यों ने उसे सम्यक्त्वाचरण चारित्र यह संज्ञा दी है ।

२१. शंका - सम्यक्त्वाचरण चारित्र को क्या असंयम चारित्र या स्वरूपाचरण चारित्र कह सकते हैं ?

समाधान - नहीं, क्योंकि असंयम चारित्र का वर्णन किसी भी आगम व अध्यात्म ग्रंथों में नहीं आया है । स्वरूपाचरण चारित्र के विषय में आप पूर्व में देख चुके हैं कि वह सकल संयमी मुनिजनों को अप्रमत्त गुणस्थान में निर्विकल्प निश्चय धर्म-ध्यान की अवस्था में ही होता है नीचे के गुणस्थानों में नहीं होता है ।

अथवा उसका वर्णन पंचाध्यायी या उनसे प्रभावित विद्वानों द्वारा वर्णित है किन्तु कहीं भी निर्ग्रन्थाचार्य द्वारा प्रणीत आगम में उसका प्रमाण न मिलने के कारण उसे यहाँ मान्य नहीं किया गया है ।

(६) वासनाकाल व शुद्धोपयोग

कषायों की वासना एक प्रकार से कषाय ही है कि जिस काल में आत्म विशुद्धि संभव नहीं है, जिस कषाय की जितने काल तक वासना रहती है उतने समय तक व्यवहार चारित्र सम्यक् प्रकार से निरतिचार पालन नहीं हो सकता है । किन्तु यह आवश्यक ही नहीं है कि वासना निरंतर बनी ही रहे । साम्परायिक जीवों का ऐसा भी समय हो सकता है कि जिसमें वासना दीर्घ काल तक नहीं भी रहती है। अथवा वह शुद्धोपयोग रुप वीतराग चारित्र से भी अधिक समय तक बनी रह सकती है । अतः उतने काल को क्या कहोगे, यही कि इस काल में शुद्धोपयोग नहीं होता है । इसे ही यहाँ वर्णित किया गया है ।

१. शंका - कषायों की वासना किसे कहते हैं ?

समाधान - उदयाभावेऽपि तत्संस्कार कालो वासना कालः ।
(गो.क.टी. ४६/४७/१०)

अर्थात् उदय का अभाव होते हुए भी कषायों का संस्कार जितने काल तक रहे उसको वासना कहते हैं ।

२. शंका - कषाय का निरंतर उदय कितने समय तक रहता है ?

समाधान - कसायाणामुदयस्स अन्तोमुहुत्तादो उवरि णिच्चएण विणासो होदि त्ति गुरुवदेसा । (ध. ४/१, ५, २५४/४४७/३)

अर्थात् कषायों के उदय का अन्तर्मुहूर्त से ऊपर निश्चय से विनाश होता है, ऐसा गुरु का उपदेश है । तात्पर्य यह है कि मान लो किसी कारण वशात् राग - रूप या द्वेषरूप अवस्था बन जाये तो जितने समय तक वह संस्कार बना रहता है । उसे वासना काल कहते है । जैसे - राम को लक्ष्मण के शव से मोह/राग छः माह तक रहा या बलराम को कृष्ण के शव से मोह/राग छः माह तक रहा बाद में मोह टूटा । अतः उक्त कषाय का वह वासना काल है ।

३. शंका - किन-किन कषाय की उत्कृष्ट वासना काल कितना-कितना है ?

समाधान - अनंतानुबंधी कषाय की वासना संख्यात, असंख्यात तथा अनंत भव है । अप्रत्याख्यान कषाय की वासना छः माह है ।

प्रत्याख्यान कषाय की वासना १५ दिन है ।

संज्वलन कषाय की वासना अन्तर्मुहूर्त है ।

४. शंका - वासना काल इतना रहना ही क्या सभी का आवश्यक है ? वासना काल में क्या शुद्धोपयोग होता है ? और वासना काल में यदि शुद्धोपयोग नहीं हुआ तो क्या वे कषाय निम्नकषायों को प्राप्त हो जाती है ?

समाधान - वासना काल की ये उत्कृष्ट अवधि बतलाई गई है कि यदि अधिक से अधिक समय तक रहे तो उक्त समय प्रमाण तक ही रहती है । इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी की इतनी अवधि रहना ही चाहिये । अपितु इससे कम भी हो सकती है । वासना काल कषाय के संस्कार का काल है । वह विशुद्धि का काल नही है । अतः उस काल में शुद्धोपयोग नहीं होता है । - हाँ, इतना जरूर है कि यदि उतने काल में वासना नहीं छूटी तो कषाय स्थान निम्न हो जाते हैं ।

५. शंका - तो क्या वासना का अभाव शुद्धोपयोग से होता है ?

समाधान - नहीं । यदि वासना का अभाव शुद्धोपयोग से माना जाय तो फिर मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान में भी कषाय की जघन्य वासना अन्तर्मुहूर्त की होती है तो उसका अभाव भी शुद्धोपयोग से मानना पड़ेगा । अतः वासना का अभाव शुद्धोपयोग से नहीं अपितु तत् जन्य संस्कारों का अभाव अपने विवेक से होता है । और विवेक के अभाव में वह वासना बनी रहती है और अवधि से अधिक होने पर वह निम्न कषायों को प्राप्त हो जाती है ।

६. शंका - वासना से वासित व्यक्ति की क्या भाव परिणति होती है ?

समाधान - शरीरादौ शुचि स्थिरात्मीयादिज्ञानान्य विद्यास्तासामभ्यासः पुनः पुनः प्रवृत्तिस्तेन जनिताः संस्कारा वासनास्तैः कृत्वा । (समाधिशतक टी. ३७)

अर्थात् शरीरादि को शुचि (शुद्ध) स्थिर और आत्मीय अपना मानना अविद्यारूप अज्ञान है, उसके पुनः पुनः प्रवृत्तिरूप अभ्यास से उत्पन्न संस्कारों को वासना कहते है । कषायों की वासना काल में व्यक्ति की ऐसी ही परिणति होती है ।

(७) भावना

भावना भी आगमिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से दो प्रकार की हैं ।

(१) आगमिक भावना का अर्थ है कि जिसे बार-बार भाया जाता है उसे भावना कहा है ।

(२) आध्यात्मिक भावना - सराग व वीतराग के भेद से दो प्रकार की हैं । सराग भावना आगमिक अर्थवत ही है तथा इसे व्यवहार भावना में संग्रहीत किया गया है ।

वीतराग भावना का अर्थ वीतराग निर्विकल्प धर्म-शुक्ल ध्यान है जो शुद्धोपयोग के अर्थ में प्रयुक्त होती है यह एक मात्र अप्रमत्त मुनियों के ही पायी जाती है ।

१. शंका - भावना किसे कहते हैं ?

समाधान - ज्ञातेऽर्थे पुनः पुनश्चिन्तन भावना । (पं.का/ता.वृ. ४३)

ज्ञात अर्थ (पदार्थों) में जो बार-बार भायी जाये उसे भावना कहते हैं । आचार्य अकलंक देव ने तत्त्वार्थ राजवार्तिक में भावना की परिभाषा इस प्रकार से दी हैं - **वीर्यान्तराय क्षयोपशमचारित्र मोहोपशम क्षयोपशमांगोपांग नामलाभापेक्षेणाऽऽत्मनाभाव्यन्ते ता इति भावना ।(रा. वा. ७ / सू. ३/१/५३५/२६)**

अर्थात् वीर्यान्तराय के क्षयोपशम के साथ चारित्र मोहनीय का उपशम तथा क्षयोपशम और आंगोपांग नामकर्म के लाभ की अपेक्षा जो आत्मा के द्वारा भायी जाती है, वे भावनाएँ हैं । अप्राप्ति की प्राप्ति के लिये जिसे बार-बार भाया जाता है उसे भावना कहते है ।

२. शंका - भावना कितने प्रकार की होती हैं ?

समाधान - भावना अनेक प्रकार की होती हैं ।

३. शंका - भावना के भाने वाले कितने प्रकार के होते हैं ?

समाधान - भावना के भाने वाले भी यद्यपि अनेक प्रकार के होते हैं फिर भी उनके (१) सरागी (२) वीतरागी - ये मुख्य दो भेद हैं ।

४. शंका - सरागी व वीतरागी जीवों के गुणस्थान में घटित कीजिये ?

समाधान - चतुर्थगुणस्थानवर्ति सरागः

पंचम गुणस्थानां .... सरागः षट्गुणस्थान ... सरागः

अप्रमत्तादि गुणस्थान वीतराग : ... (स.सा./ता.वृ. १८४-१८५)

अर्थात् ४ से ६ गुणस्थानवर्ती जीवों को सरागी व ७ वें गुणस्थान से वीतरागी कहा जाता हैं । अतः सरागी जीवों की सराग भावना व वीतरागी जीवों की वीतराग भावना होती है ।

५. **शंका** - सराग भावना को क्या आभ्यंतर धर्म ध्यान कहते हैं ?

समाधान - सहजशुद्धपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवति निजात्मन्युपादेयबुद्धिं कृत्वा पश्चादनन्तज्ञानोऽहमनन्तसुखोऽहमित्यादिभावना रुपमभ्यन्तरधर्मध्यानमुच्यते । पञ्चपरमेष्ठिभक्त्यादितदनुकूलशुभानुष्ठानं पुनर्बहिरंगधर्मध्यानं भवति । (वृ.द्र.सं.टी. गा. ४८ पृ. १६१)

अर्थात् सहज शुद्ध परम चैतन्य से शोभायमान तथा निर्भर (परिपूर्ण) आनंद के समूह को धारण करने वाला जो भगवान् निज आत्मा है उसमें उपादेय बुद्धि करके मैं अनंतज्ञान का धारक हूँ । मैं अनंत सुख का धारक हूँ । इत्यादि भावना का करना है सो वह अन्तरंग धर्म ध्यान कहा जाता है । और पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति आदि तथा उसके अनुकूल जो शुभ अनुष्ठान का करना बहिरंग धर्मध्यान कहलाता है । तात्पर्य यह है अनंत ज्ञानोऽहं, अनंत सुखोऽहं, इत्यादि सराग भावना आभ्यंतर धर्म ध्यान है। तथा भक्ति आदि का अनुष्ठान बहिरंग धर्म ध्यान है ।

६. **शंका** - क्या आभ्यंतर शुद्ध भावना रूप धर्मध्यान सभी श्रावकों को हमेशा होता ही रहता है या कभी - कभी ?

समाधान - श्रावकाणामपि सामायिकादि काले शुद्ध भावना दृश्यते (प्र. सा. ता. वृ. २४८)

श्रावकों को भी सामायिक आदि के समय (कभी किसी-किसी को) शुद्ध भावना देखी जाती है ।

चतुर्थ गुणस्थान योग्यामात्मनोविरतावस्थामपरित्यजन् (वृ..द्र.सं./टी २/३८)

चतुर्थगुणस्थानयोग्यमात्मभावनामपरित्यजन् सन् देवलोक (पं.का./ता.वृ. १७०)

अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान के योग्य आत्म भावना को नहीं छोड़ते हुए ..

चक्रवर्त्यादि विभूति लब्ध्वापि पूर्वभवभावितशुद्धात्म भावनाबलेन मोहं न करोति । (पं.का./ता.वृ. १७०)

७. **शंका** - वीतराग गुणस्थानों में वीतराग भावना कब और किसे होती है ?

समाधान - बाह्याभ्यंतर परिग्रह रहित स्वशुद्धात्म भावनोत्पन्न वीतराग परमानंद सहितो मुनिर्यत्सुखं लभते तद् देवेन्द्रादयोऽपि न लभन्ते इति । (प.प्र.टी. १/११७)

अर्थात् बाह्याभ्यंतर परिग्रह से रहित मुनिजन अपनी शुद्धात्मभावना (शुद्धोपयोग) से उत्पन्न परम आनंद से युक्त जो सुख प्राप्त करते हैं वह देवेन्द्र आदि भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं ।

बाह्याभ्यंतर परिग्रह त्यागं कृत्वा सर्व तात्पर्येण निज शुद्धात्म भावना कर्तव्येति तात्पर्यम् । (प.प्र.टी. १/९९)

(१० प्रकार के) बाह्य तथा (१४ प्रकार के) आभ्यंतर परिग्रह का त्याग करके सभी प्रकार से अपनी शुद्धात्म भावना को करना चाहिए ।

शुद्धात्मभावना लक्षणस्य वीतराग निर्विकल्प समाधि ।(प.प्र.टी./९)

शुद्धोपयोग भावनान्तर्भूतं वीतराग निर्विकल्प समाधि ।(प.प्र.टी./७)

इन दोनों उदाहरणों में वीतराग निर्विकल्प ध्यान को ही शुद्धात्म भावना या शुद्धोपयोग भावना कहा है । तात्पर्य यह है वीतराग भावना ही वीतराग (निश्चय) धर्मध्यान है ।

८. **शंका** - क्या वीतराग निर्विकल्प ध्यान ही निश्चय धर्मध्यान है ?

समाधान - **रागादि दोष रहितः शुद्धात्मानुभूतिसहितोः निश्चयधर्मो । (पं.का.ता.वृ. २/९५)**

रागदिदोष (रूप विकल्प से) रहित शुद्धात्मानुभूति सहित निश्चय धर्मध्यान होता है।

९. **शंका** - निश्चय, वीतराग धर्मध्यान रूप - भावना क्या गृहस्थों को होती है ?

समाधान - नहीं होती है - यथा

ये गृहस्थापि सन्तो मनागात्म भावनामासाद्य वयं ध्यानिन इति ब्रुवते ते जिन धर्म विराधका मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्याः । (मो.पा.टी. २/३०५)

अर्थात् जो गृहस्थ होते हुए भी (क्वचित् कदाचित्) थोड़ी (सविकल्पात्मक) भावना को प्राप्त करके हम ध्यानी है ऐसा कहते है, वे जिन धर्म विराधक मिथ्यादृष्टि

हैं, ऐसा जानना चाहिए । यही बात ज्ञानार्णव, आराधनासार, भावसंग्रह, प्रवचना सार तात्पर्यवृत्ति, परमात्मप्रकाश, वृहद्द्रव्यसंग्रह आदि ग्रंथों में कही है । विशेष विस्तार-- देखें इसी शुद्धोपयोग के पृष्ठ. ५० से ५४.

१०. शंका - निर्विकल्प ध्यान व भावना में क्या अंतर है ?

समाधान - इसी बात को **(धवला पु. १३/५, ४, २६/गा. १२/६४)** में कहा है कि **यथा जंथिर मज्झवसाणं तं ज्झाणं जं चलंत चित्त तं होई भावणा वा अणुपेहा वा अहवा चिन्ता ॥१२॥** जो परिणामों की स्थिरता होती है उसे ध्यान कहते है और जो चित्त का एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में चलायमान होना है उसे भावना/अनुप्रेक्षा/चिंता कहते हैं ।

सविकल्प सराग गुणस्थानों में भावना का चिन्तन/अनुप्रेक्षा/विकल्प रूप से घटित करना चाहिए । जो अप्राप्त की प्राप्ति के लिये की जाती है । यह ४ से ६ गुणस्थानों में होती है । तथा निर्विकल्प धर्म, शुक्लध्यान रूप भावना यथायोग्य निर्विकल्प धर्म ध्यानरूप अप्रमत्तादि गुणस्थानों में होती है । तथा शुक्ल ध्यान रूप अपूर्वकरण आदि गुणस्थानों में होती है ।

(८) मोक्षमार्ग रत्नत्रय

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को रत्नत्रय कहते है । तथा इन तीनों की एकता को ही मोक्षमार्ग कहते है । यद्यपि सम्यग्दर्शन होते ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् हो जाते हैं फिर भी प्रत्येक गुणों को आवारक कर्मों का योग्य उपशम क्षय, क्षयोपशम की आवश्यकता होती है । सम्यक्त्व के साथ मति-श्रुत अवधि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम सम्यग्ज्ञान है ।

तथा संपूर्ण ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय ही क्षायिक (केवल) सम्यग्ज्ञान है । यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में अभी संकल्परूप चारित्र नहीं है, अतः मोक्षमार्गी नहीं है फिर भी, उपचार से उसे मोक्षमार्गी कहा जा सकता है । सम्यक्त्व के साथ-साथ जब पांच पापों का संकल्पपूर्वक एकदेश त्याग किया जाता है तथा ऐसे समय जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होता है तब देशचारित्र होता है। अभी यह चारित्र की परीक्षा में पूर्णतः पास नहीं हुआ है । अतः इसकी चारित्र यह संज्ञा न देकर आचार्यों ने देश चारित्र ऐसी संज्ञा दी है ।

इसके आगे जब संकल्प पूर्वक पूर्णतः पांचों पापों के त्याग के साथ-साथ जब मुनिव्रत को धारण किया जाता है तथा उस समय जब प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होता है तभी सकल चारित्र के होनें पर चारित्र अपना सच्चे अर्थ में चारित्र नाम पाता है। यह चारित्र सविकल्प, सराग भेद या बाह्याभ्यंतर रूप सकल चारित्र है जो कि अध्यात्म दृष्टि से साधनस्वरूप व्यवहार संज्ञा को प्राप्त होता है। यह सब करणानुयोग की अपेक्षा से छठ्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि की अवस्था है। अतः इस गुणस्थानवर्ती सच्चे भावलिंगी मुनि को ही भेद, सराग, सविकल्प या व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग कहा जाता है। तथा इसके आगे जब संज्वलन कषाय का मंद उदय होता है तब वीतराग निर्विकल्प चारित्र / समाधि, निश्चय धर्मध्यान रूप शुद्धोपयोग का प्रारंभ होता है। तभी वहाँ से अभेद, वीतराग, निर्विकल्प, निश्चय, अभेद, रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है।

संपूर्ण कषायों के उपशम से होने वाले ग्यारहवें (उपशान्त मोह नामक) गुणस्थानवर्ती मुनिराज के यह उक्त चारित्र, तथा संपूर्ण कषायों (मोहनीय कर्म) के क्षय से होने वाले क्षीणमोह आदि गुणस्थानवर्ती मुनिराजों का चारित्र, वीतराग, निर्विकल्प, निश्चय अभेद यथाख्यात चारित्र संज्ञा को प्राप्त होता है ।

इसके अनंतर शेष घातिकर्म, प्रकृतियों के क्षय हो जाने से सयोग केवली नामक १३ वा गुणस्थान हो जाता है जहाँ की सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के आवरण कर्मों का

पूर्णतः क्षय हो जाने पर भी चारित्र पूर्ण नहीं हो पाता है । इसलिये मोक्षमार्ग ही रहता है । जब अयोग केवली नामक १४ वें गुणस्थान में १८ हजार शीलरूप चारित्र की पूर्णतः होते ही संपूर्ण कर्म का क्षय कर उन महामुनिराज का निश्चय रत्नत्रय या मोक्षमार्ग पूर्ण होते ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

ध्यान रहे कि निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग भी हमारा शुद्ध स्वभाव नहीं है । यह तो कारण/साधन ही है इसके अनंतर प्राप्त होने वाला मोक्ष/सिद्ध अवस्था ही हमारा सच्चा वास्तविक स्वभाव है ।

१. शंका - मोक्षमार्ग किसे कहते हैं ?

समाधान - सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः । (त. सू. १/१)

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता मोक्ष मार्ग है ।

२. शंका - मोक्षमार्ग के कितने भेद है ?

समाधान - यद्यपि मोक्षमार्ग एक ही है । यथा -

एक्को ही मोक्ख मग्गो अर्थात् मोक्षमार्ग एक ही है ।

त.सू.अ. १ सू. १ में मार्गः यहाँ भी एक वचन का ही प्रयोग है । अतः मोक्षमार्ग एक ही होता है, दूसरा नहीं । किन्तु फिर भी उसके साधकों की अपेक्षा से दो भेद भी किये गये हैं । **यथा** -

निश्चय व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः । (त.सा.९/२)

निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का हैं ।

३. शंका - व्यवहार मोक्षमार्ग किसे कहते हैं ?

समाधान - श्रद्धानाधिगमोपेक्षा या पुनः स्युः परात्मना ।

सम्यक्त्व ज्ञान वृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः ॥ (त.सा.९/४)

आत्मा में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र यदि भेद अर्थात् विकल्प की मुख्यता से प्रगट हो रहा हो तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप रत्नत्रय को व्यवहार मोक्षमार्ग समझना चाहिए ।

४. शंका - क्या व्यवहार रत्नत्रय को ही भेद रत्नत्रय कहते है ?

समाधान - व्यवहारेण वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धात्मतत्त्वप्रभृत्तिषट्द्रव्य पंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थविषये सम्यक् श्रद्धान ज्ञानाहिंसादिव्रतशील परिपालनरूपस्य भेदरत्नत्रयस्य । (प.प्र./टी. २/३१/१५०/१६)

अर्थात् व्यवहार से सर्वज्ञ प्रणीत शुद्धात्मतत्त्व को आदि लेकर जो षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्ततत्त्व, नवपदार्थ इनके विषय में सम्यक् श्रद्धान व ज्ञान करना तथा अहिंसादि व्रत शील आदि का पालन करना ऐसा भेद रत्नत्रय का स्वरूप है ।

५. शंका - क्या ये तीनों अलग-अलग, एक-एक या युगल दो-दो मोक्ष-मार्ग नहीं हैं ?

समाधान - इसे (**सर्वार्थ सिद्धि टीका १/१**) में इस प्रकार से समझाया है। यथा सूत्र में **मार्गः** ऐसा जो एक वचन निर्देश किया है, यह तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है । यह बताने के लिए किया है । इससे सम्यग्ज्ञान या सम्यग्दर्शन, या सम्यक्चारित्र में पृथक् पृथक् रहते हुए मार्गपने का निषेध हो जाता है । अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर ही मोक्ष का एक साक्षात् मार्ग है, ऐसा जानना चाहिए।

६. शंका - क्या ये तीनों अलग अलग भी हो सकते हैं ?

समाधान - हाँ, तभी तो सूत्र में **चारित्राणि** यह बहुवचन रूप तीनों यह शब्द दिया है। अन्यथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इस वाक्य की कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। एक मात्र **मोक्षमार्गः** कह देते, इतना ही पर्याप्त था।

हाँ, इतना जरूर है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में पूर्व पूर्व की प्राप्ति होने पर उत्तर उत्तर की प्राप्ति भजनीय है । अर्थात् हो भी और न भी हो । परन्तु उत्तर की प्राप्ति में पूर्व का लाभ निश्चित है । जैसे - जैसे सम्यक्चारित्र होगा उसे सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होंगे ही, पर जिसे सम्यग्दर्शन है उसे पूर्ण सम्यग्ज्ञान और चारित्र हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है ।

७. शंका - क्या व्यवहार रत्नत्रय युगपत् होता है ?

समाधान - युगपत् हो भी सकता है और नहीं भी । अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तो युगपत् होते हैं किन्तु चारित्र भजनीय है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन ज्ञान तो होता है किन्तु संकल्प पूर्वक चारित्र नहीं होता है। पंचम गुणस्थान में सम्यग्दर्शन, ज्ञान के साथ एकदेश चारित्र तो होता है किन्तु सकल चारित्र नहीं होता है। छट्ठे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन ज्ञान सकलचारित्र रूप व्यवहार सराग चारित्र युगपत् रहता है। यहाँ तक ही साधक स्वरूप भेद सराग या सविकल्प रत्नत्रय पाया जाता है। सातवें सराग व्यवहार

भेद सविकल्प साधक रत्नत्रयात्मक के पश्चात् ही आदि गुणस्थान में निश्चय निर्विकल्प साध्य स्वरूप, रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग होता है। यहाँ से ही अभेद रत्नत्रय प्रारंभ होता है।

८. शंका - क्या व्यवहार से सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान को अथवा देशचारित्र को मोक्षमार्ग कह सकते हैं ?

समाधान - हाँ, व्यवहार नय से एक या दो दो को भी मोक्ष मार्ग कहा जा सकता है । क्योकि व्यवहार भेद को विषय करता है । अथवा महिमा वाक्य की प्रधानता से भी कथन करता है। जैसे - अविरत सम्यग्दृष्टि भी मोक्षमार्गी है । यथा - **निर्मोहो गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो (र. श्रा. ३३)** अर्थात् दर्शनमोह के उदय से रहित अविरत सम्यग्दृष्टि भी मोक्षमार्गी है । अथवा देशव्रती भी मोक्षमार्गी है । अथवा इसे ऐसा भी कहा जा सकता है कि अविरत सम्यग्दृष्टि को पाया जाने वाला सम्यग्दर्शन ज्ञान के साथ सम्यक्त्वाचरण (उपचार से) चारित्र पाया जाता है । अतः इस दृष्टि से भी अविरत सम्यग्दृष्टि कथंचित् मोक्षमार्गी है । (सविस्तृत देखें चारित्र प्रकरण को) इसी प्रकार देशवर्ती नामक पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक भी सम्यग्दर्शन ज्ञान के साथ पाया जाने वाला देश चारित्र से युक्त होने के कारण एक देश मोक्षमार्गी है । वास्तव में सम्यग्दर्शन ज्ञान तथा सकल चारित्र से युक्त मुनिजन ही व्यवहार से मोक्षमार्गी हैं ।

९. शंका - निश्चय मोक्षमार्ग किसे कहते हैं ?

समाधान - निश्चयेन वीतरागसदानंदैकरूपसुखसुधारसास्वादपरिणत निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यग्श्रद्धानज्ञानानुचरण रूपस्याभेदरत्नत्रयस्य...
(प.प्र./टी. २/३१/१५१/१)

अर्थात् निश्चय से वीतराग सुख रूप परिणत जो निज शुद्धात्मतत्त्व उसी से सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व अनुचरण रूप अभेद रत्नत्रय का स्वरूप है । अथवा
णिच्चय णयेय भणिदो ति हि तेहिंसमाहिदो हु जो अप्पा ।

ण कुणदि किं चि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्ख मग्गो त्ति ॥
(पं.का./मू. १६१)

अर्थात् जो आत्मा इन तीनों (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) द्वारा समाहित होता हुआ अन्य कुछ भी न करता है और न छोड़ता है (छोड़ने के विकल्प से भी अतीत हो जाता है) वह आत्मा ही निश्चय से मोक्षमार्ग कहा जाता है ।

एक मेव हि चैतन्यं शुद्ध निश्चयतोऽथवा ।

कोऽवकाशो विकल्पानां तत्राखण्ड वस्तुनि ॥

शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से ये तीनों एक चैतन्य स्वरूप ही है । कारण उस एक अखण्ड वस्तु में भेदों के लिये स्थान ही कहाँ हैं ।

१०. शंका - पर्यायार्थिक व द्रव्यार्थिक नय से रत्नत्रय का स्वरूप क्या है ?

समाधान - स्यात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूपः पर्यायार्थादेशतो मुक्तीमार्गः । एको ज्ञाता सर्व दैवाद्वितीयः, स्याद् द्रव्यार्था देशतोमुक्तिमार्गः ॥ (त.सा.९/२१)

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनों में भेद करना सो पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से मोक्षमार्ग है । इन पर्याय में ज्ञाता जीव एक ही रहता है । पर्याय तथा जीव में कोई भेद न देखते हुए रत्नत्रय से आत्मा को अभिन्न देखना, सो द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से मोक्षमार्ग है ।

११. शंका - निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय या मोक्षमार्ग का पारस्परिक क्या संबंध हैं?

समाधान.- (१) निश्चय व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥

(त.सा. ९/२)

निश्चय व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का हैं ।

तहाँ निश्चय मोक्षमार्ग तो साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है ।

(२) निश्चय मोक्षमार्गस्य परंपरया कारण भूत व्यवहार मोक्षमार्गम्। (पं.का./ता.वृ. १०५/१६७)

निश्चय मोक्षमार्ग का परंपरा कारण व्यवहार मोक्षमार्ग है ऐसा जानो ।

(३) निश्चय मोक्षमार्ग साधकं व्यवहार मोक्षमार्गं जानीहि । (प.प्र./टी./२/ १४/१२८/१०)

निश्चय मोक्षमार्ग के साधक व्यवहार मोक्षमार्ग को जानों ।

१२. शंका - किसी दृष्टांत द्वारा निश्चय व्यवहार की साध्यसाधकपना को समझाईये ।

समाधान - (१) न चैतद्विप्रतिषिद्धं निश्चय व्यवहारयोः साध्यसाधन भावत्वात् सुवर्ण सुवर्णपाषाण वत् । (पं.का./त.वृ. १५९)

निश्चय द्वारा अभिन्न साध्यसाधन भाव से तथा व्यवहार द्वारा भिन्न साध्य साधन भाव से जो मोक्षमार्ग का दो प्रकार से प्ररूपण किया है । इनमें परस्पर विरोध आता हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि स्वर्ण और स्वर्णपाषाण वत् निश्चय व व्यवहार को साध्य साधनपना है । अर्थात् जैसे सुवर्ण पाषाण अग्नि के संयोग से शुद्ध स्वर्ण बन जाता है वैसे ही जीव व्यवहार के संयोग से निश्चय मोक्षमार्ग को प्राप्त हो जाता है। अथवा

जीवऽप्रविश्य व्यवहार मार्गं न निश्चयं ज्ञातुमपैति शक्तिम्

प्रभाविकाशे क्षणमान्तेरण भानूदयं को वदते विवेकी ।(आ.सा. ७/३०)

जैसे प्रभात हुए बिना सूर्य का उदय नहीं हो सकता है । वैसे ही व्यवहार मार्ग में प्रवेश किये बिना जीव निश्चय मार्ग को जानने में समर्थ नहीं हो सकता है । इसी बात को (प.प्र. टी.२/१४/१२९/१)में कहा है **अत्राह शिष्यः निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्पः तत्काले सविकल्प मोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति। अत्र परिहारमाह। भूतनैगमनयेन परंपरया भवतीति। अथवा सविकल्प निर्विकल्पभेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विधा, तत्रानन्तज्ञानरुपोऽहमित्यादि सविकल्पसाधको भवति, निर्विकल्पसमाधिरुपो साध्यो भवतीति भावार्थः । सविकल्प निर्विकल्प निश्चयमोक्षमार्गविषये संवादगाथामाह -**

जं पुण सगयं तच्चं सवियप्पं होइ यह य अवियप्पं ॥

सवियप्पं सासवयं निरासवं विगय संकप्पं । (त. सा. १४)

१३. शंका - निश्चय मोक्षमार्ग निर्विकल्प है तथा उसके होते हुए सविकल्प मोक्षमार्ग नहीं होता है । तब वह निश्चय साधक कैसे हो सकता है ?

समाधान - भूतनैगम नय की अपेक्षा परम्परा से वह साधक हो जाता है अथवा दूसरे प्रकार से यो समझ लीजिये की, सविकल्प व निर्विकल्प के भेद से दो प्रकार का मोक्षमार्ग हैं । जहाँ मैं अनंत ज्ञान स्वरूप हूँ इत्यादिरूप सविकल्प मार्ग तो साधक होता है और निर्विकल्परूप (निश्चय मोक्षमार्ग) साध्य होता है ऐसा भावार्थ है । उक्त शंका समाधान में उक्त समाधान ही पर्याप्त है ।

१४. शंका - क्या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक मोक्षमार्गी है ?

समाधान - इस विषयक में आचार्यो के कथन को चार प्रकार से विभाजन किया जा सकता हैं (१) निश्चय (२) व्यवहार (३) एकदेश तथा (४) उपचार

(१) निश्चय मोक्षमार्ग - जो वीतराग निर्विकल्प समाधि (ध्यान) रुप अभेद रत्नत्रय मय अप्रमत्तादि मुनियों को ही पाया जाता है ।

(२) व्यवहार मोक्षमार्ग - जो सराग ध्यान या भावनारुप भेद रत्नत्रय वाले ६ वें गुणस्थानवर्ती निर्ग्रंथ मुनियों को ही पाया जाता है ।

(३) एकदेश रत्नत्रय - यद्यपि निश्चय रत्नत्रय की पूर्णता १४ वें गुणस्थान के अंत में होती है । अतः उनका ही निश्चय रत्नत्रय पूर्ण माना जाता है । बाकी ७ वें गुणस्थान से १३ वें गुणस्थान तक निश्चयात्मक एक देश रत्नत्रय माना गया है तथा व्यवहार से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के साथ एकदेश चारित्र पंचम गुणस्थान में पाया जाता है । अतः भेद रूप एकदेश रत्नत्रय, सराग एकदेश रत्नत्रय, सविकल्प एकदेश रत्नत्रय पंचम गुणस्थान में ही पाया जाता है ।

(४) उपचार रत्नत्रय - चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान युगपत् पाया जाता है । किन्तु चरणानुयोग प्रधान ग्रंथों में कथित **सकलं विकलं चरणं** रुप न सकलचारित्र ही पाया है और न तो देशचारित्र ही पाया जाता है । फिर भी चूंकि सम्यग्दर्शन के होते ही सभी गुण सम्यक रुप हो जाते हैं । अतः चारित्र गुण कि पर्याय भी मिथ्यारूप नहीं रहती अपितु सम्यक् रुप आचरण भी पाया जाता है जिसे आचार्य श्री कुंदकुंददेव ने मोक्षपाहुड में सम्यक्त्वाचरण नाम दिया है । यह सम्यक्त्वाचरण चारित्र अंतरंग व बहिरंग के भेद से दो प्रकार का होता हैं । किन्तु फिर भी अनंतानुबंधी कषाय के अभाव से होने वाला यह चारित्र अध्यात्मदृष्टि से सराग या व्यवहार चारित्र ही कहलाता है । वह भी अभी इतना कमजोर होता है कि उसे किसी भी आचार्यों ने देश या सकल चारित्र में संग्रहित नहीं किया है । अतः चारित्र होने पर भी यह अभी चारित्र संज्ञा को प्राप्त नहीं हो पाया है । और इसी कारण से सिद्धांत चक्रवर्ती श्री नेमीचंद्राचार्य ने इसे (देश या सकल चारित्र के अभावात्मक/रूप से चतुर्थ गुणस्थान अचारित्र रुप में ही गिनाया है ।

यथा **चारित्रं णत्थि जदो अविरद अंतेसुठाणेसु** । अर्थात् यहाँ तक के गुणस्थानों में चारित्र संज्ञक चारित्र नहीं है क्योंकि अविरत दशा का यह अंतिम चौथा गुणस्थान है । इस प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान में उपचार से रत्नत्रय अथवा मोक्षमार्ग कहा जाता है अथवा मोक्षमार्ग का मूल या प्रथम सीढ़ी स्वरूप सम्यग्दर्शन यहाँ पाया है इसके बाद ही ज्ञान व चारित्र होता है।

यथा - दर्शनं ज्ञान चारित्रात्, साधिमान मुपाश्नुते ।

दर्शनं कर्णधारं, तन्मोक्ष मार्गे प्रचक्षते । ... (र.क.श्रा. ३१)

ज्ञानचारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन उत्कृष्टपने को प्राप्त होता है, यथा सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग में खेवटिये के समान कहा गया है । तथा इसी ग्रंथ में ही ३२, ३३ वी गाथा में

कहा है कि बिना सम्यग्दर्शन के ज्ञान व चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नही होते है। एवं सम्यग्दर्शन के बिना मुनि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी कहा है ।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो ....

१५. शंका - निश्चय मोक्षमार्ग व व्यवहार मोक्षमार्ग क्या एक साथ होते है ?

समाधान - अत्राह शिष्यः । निश्चय मोक्षमार्गो निर्विकल्पः तत्काले सविकल्पमोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति ? अत्र परिहारमाह । भूत नैगम नयेन परम्परया भवतीति । (प.प्र./टी.२/१४/१२९/१)

यहाँ प्रभाकर भट्ट प्रश्न करते हैं कि निश्चय मोक्षमार्ग तो निर्विकल्प है, उस समय सविकल्प मोक्षमार्ग नहीं है तो वह साधक कैसे हो सकता है?तो इसके उत्तर में योगीन्दु देव कहते हैं कि यह भूतनैगम नय कि अपेक्षा से परम्परा से साधक होता है।

१६. शंका - निश्चय मोक्षमार्ग के कितने भेद है ?

समाधान - सविकल्प निर्विकल्प भेदेन निश्चय मोक्षमार्गो द्विधा ।

अर्थात् सविकल्प और निर्विकल्प भेद से निश्चय मोक्षमार्ग दो प्रकार से होता हैं ।

१७. शंका - सविकल्प निश्चय मोक्षमार्ग किसे कहते हैं ?

समाधान - तत्रानन्त ज्ञान रुपोऽहमित्यादि सविकल्प साधको भवति । (प.प्र./टी./२/१४/१२९/१)

अर्थात् अनंतज्ञान रूप मैं हूँ इत्यादि (भावनारूप) सविकल्प मोक्षमार्ग हैं ।

१८. शंका - निर्विकल्प निश्चय मोक्षमार्ग किसे कहते हैं ?

समाधान - निजशुद्धात्म सम्यक्श्रद्धान ज्ञानानुष्ठान रुपो निश्चय मोक्षमार्गः निश्चय मोक्षमार्गो निर्विकल्पः । निर्विकल्पः समाधिरूपो.. । (प. प्र./टी/२/१४/१२८)

अर्थात् अपनी शुद्धात्मा के प्रति सम्यक्श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी रुप अनुष्ठान (तीनों की एक ही समय में अभेद अवस्था रुप निश्चय मोक्षमार्ग है । जो कि निर्विकल्प रुप है अर्थात् निर्विकल्प ध्यान रूप है ।

१९. शंका - सविकल्प मोक्षमार्ग व निर्विकल्प मोक्षमार्ग में साध्य साधक भाव घटित कीजिये ?

समाधान - **सविकल्प साधको भवति, निर्विकल्प समाधि रुपो साध्यो भवतीति भावार्थः ।** (प.प्र./टी./२/१४/१२९/१)

अर्थात् सविकल्प मोक्षमार्ग साधक होता है और उसके द्वारा निर्विकल्प समाधि रुप मोक्षमार्ग साध्य होता है ।

२०. शंका - व्यवहार रत्नत्रय चौथे से छटवें गुणस्थान तक होता है, तथा निश्चय रत्नत्रय सातवें में तथा उसके आगे के गुणस्थानों में होता है। क्या यह गलत धारणा नहीं हैं ?

समाधान - नहीं आध्यात्मिक दृष्टि से व्यवहार रत्नत्रय, भेद रत्नत्रय सविकल्प और शुभोपयोग रुप रत्नत्रय ४,५,६ गुणस्थान में ही होता है । यथा - **शुद्धात्म भावना सहकारिभूत किमपि प्रासुकाहार ज्ञानोपकरणादिकं गृह्णातीत्यपवादो - व्यवहारनय एकदेशपरित्यागस्तथा चापहृतसंयमः सराग चारित्रं शुभोपयोग इति यावदेकार्थ - (प्र.सा.ता.वृ. ३/३०/टी.पृ. २८७)** उपर्युक्त वाक्य से स्पष्ट है कि व्यवहार नय, एकदेश परित्याग, अपहृत संयम, सराग चारित्र और शुभोपयोग एकार्थवाची है । अतः शुभोपयोग ४, ५, ६ गुणस्थान में होता है तो फिर भेद रत्नत्रय, व्यवहार रत्नत्रय, एकदेश परित्याग, अपहृत संयम और सराग संयम ये भी यथायोग्य रुप हो ४, ५, ६ गुणस्थान में ही होते हैं क्या चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र पाया जाता है ? इसका उत्तर चारित्र प्रकरण में देखे । तथा -

निश्चय रत्नत्रयात्मक शुद्धोपयोगेन **(प्र.सा./ता.वृ.१/९)**

निर्विकल्प समाधिकाले तु निश्चयेनेति तदेव च नामान्तरेण परमसाम्यमिति तदेव परमसाम्यं पर्यायनामान्तरेण शुद्धोपयोग लक्षणः श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गे ज्ञातव्य इति । **(प्र.सा.ता.वृ. ३/४२)**

अर्थात् उपर्युक्त इस वाक्य से भी -

निश्चय रत्नत्रय, निश्चयनय, परमसाम्य, शुद्धोपयोग लक्षण, श्रामण्य मोक्षमार्ग और शुद्धोपयोग, वे सभी एकार्थवाची हैं । अतः जब शुद्धोपयोग ही ७ से १२ वें गुणस्थान तक होता है तो शुद्धोपयोग के पर्यायवाची शब्द निश्चय रत्नत्रय भी सातवें गुणस्थान में तथा उसके आगे के गुणस्थानों तक होता है, अन्य में नही । इसे गलत कहना ही आगम की अवहेलना करना है तथा यह सब लक्षण श्रुत का अवर्णवाद करना है, जो कि दर्शनमोह रुप मिथ्यात्व कर्म का आस्रव कराने वाला है । अतः भव भीरुओं को कभी आगम को गलत बताने का दुस्साहस नहीं करना चाहिए । क्योंकि ऐसा दुस्साहस तो कलिकाल सर्वज्ञ वीरसेनाचार्य जी ने भी नहीं किया । अपितु जहाँ दो

आचार्यों के दो मत मिले वहाँ उन्होंने यही कहा कि निर्ग्रंथाचार्यों के वचनों को गलत असत्य कहने में ऐलाचार्य की जीभ (जिह्वा न हिल्तज्ज) नहीं हिल सकती । ऐसा कहा है । अथवा जब तक साक्षात् केवली का समागम प्राप्त नहीं हुआ तब तक उभय वाक्यं प्रमाण कहा । किन्तु किसी को गलत कहने का दुस्साहस नहीं किया है ।

२१. शंका – वृहद् द्रव्यसंग्रह द्वितीय अध्याय (चूलिका पृष्ठ ६६) उत्थानिका में **निश्चय रत्नत्रय स्वरूपं तत्साधकं व्यवहार रत्नत्रय रुपं चेति** अर्थात् जो निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है उसका साधक व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप है । वह चौथे से छटवें गुणस्थानों में होता है । इसलिये ऐसे शुद्धोपयोग साधक को शुभोपयोगी कहा जाता है । इस शुद्धोपयोग के जो साधक शुभोपयोग से (छूटकर) सातवें गुणस्थान में आरूढ़ होते हैं – उन्हें ही शुद्धोपयोग होता है । ऐसा तर्क वहाँ पुष्ट करने की कोशिश भरसक की है परन्तु विड़म्बना यह है कि उनका यह भ्रामक तर्क उन्हीं के उक्त उदाहरण को पूर्णतया अच्छी तरह पढ़ने पर पूर्ण रूप से निरस्त कर देता है । उस मूल उद्धरण को यहाँ अर्थ सहित दे रहा हूँ । **उपादेयतत्वं अक्षयानन्तसुखं, तस्य कारणं मोक्षो, मोक्षस्य कारणं संवर निर्जराद्वयं, तस्य कारणं विशुद्धज्ञान दर्शन स्वभाव निजात्म तत्त्व सम्यक्श्रद्धान ज्ञानानुचरण लक्षणं निश्चय रत्नत्रय स्वरूपं तत्साधकं व्यवहार रत्नत्रय स्वरूपं चेति** ।

अर्थात् उपादेय तत्त्व वह अक्षय – अनन्तसुख है उसका कारण मोक्ष है । मोक्ष का कारण संवर तथा निर्जरा यह ही है, उसका कारण विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव है। उसी निजात्मतत्त्व का सम्यक्श्रद्धान सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् अनुचरण जिसका लक्षण है वही निश्चय रत्नत्रय का स्वरूप है । इसी निश्चय रत्नत्रय का साधक यह व्यवहार रत्नत्रय है । ऐसे उदाहरण और भी अनेक हैं । (पृ. २६)

समाधान – जैसा कि अर्थ शुद्धोपयोग विवेचन पुस्तक कर्ता ने दिया है, वैसा तो शुद्धोपयोग पुस्तक के २६ वें पृष्ठ पर तो है ही नहीं । यह तो लेखक ने अपनी ओर से लिखा है । शुद्धोपयोग पुस्तक के पृष्ठ २६ पर **निश्चय रत्नत्रय स्वरूपं तत्साधकं व्यवहार रत्नत्रय चेति । टिप्पण नं. १६१ (अ) का विषय निम्न प्रकार है।**

यहाँ वृत्तिकार ने अभिमुख और परिणाम को एक कहकर उस परिणाम को शुद्धोपयोग कहा है । अब हमें देखना है कि जो निश्चय रत्नत्रय स्वरूप पर्याय से परिणमित है वह पूर्व में क्या नियम से व्यवहार रत्नत्रय से भी परिणमित हो चुका था? क्योंकि व्यवहार के बिना निश्चय नहीं होता है, यह सामान्य नियम है। व्यवहार साधन है, कारण है, हेतु है, निमित्त है। यह वाक्य शब्दशः शुद्धोपयोग पुस्तक से है।

शुद्धोपयोग विवेचनाकार ने कहा कुछ, लिखा कुछ, ऐसा क्यों किया - विचारणीय है । अब देखना है कि शुद्धोपयोग विवेचन कर्ता की दृष्टि में भी यदि उपरोक्त वाक्य ही लिखते हैं तो भी इससे हमें कोई हर्ज नहीं है । क्योंकि हम निश्चय रत्नत्रय का साधक ही व्यवहार रत्नत्रय को मानते हैं, और वह व्यवहार रत्नत्रय सराग सविकल्प शुभोपयोगरूप होता है तथा ४ से ६ गुणस्थानों में होता है । और ऐसे शुद्धोपयोग के साधक व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप शुभोपयोग पूर्वक ही अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनि को सातवें गुणस्थान से ही शुद्धोपयोग होता है । ऐसा तर्क पुष्ट करके भी सम्यक् कोशिश ही की है एवं दिग्भ्रमित लोगों के भ्रम को दूर करने का भरसक प्रयास किया है । अतः यह न तो विड़म्बना है, न भ्रामक तर्क है और न ही उक्त उद्धरण को पूर्णतया अच्छी तरह पढ़ने से निरस्त नहीं अपितु पुष्ट ही होता है । हाँ, यह बात अलग है, कि उपरोक्त आगम प्रमाण से उल्टे ही शुद्धोपयोग विवेचन कर्ता की ही मान्यता खण्डन होती है ।

तथा जो उन्होंने **वृ. द्र. सं. टीका** - का जो अवशेष प्रमाण दिया है उसमें निश्चय रत्नत्रय का स्वरूप बताकर यही तो कहा है कि इसी निश्चय रत्नत्रय का साधक यह व्यवहार रत्नत्रय है । और यही अर्थ तो विवेचक स्वयं लिख रहे है । अतः शुद्धोपयोग पुस्तक का उक्त वाक्य सत्य ही है ।

२२. शंका - जैसे मिट्टी के घड़े में घी रखा होने से व्यवहार से उसे घी का घड़ा कहा जाता है । उसी प्रकार निश्चय एवं व्यवहार रत्नत्रय को समझना चाहिये क्या ? और उसके बिना अंदर में घी स्वरूप निश्चय रत्नत्रय न हो तब उस व्यवहार रत्नत्रय को खोखला, शून्य तथा आभास रूप समझा जाता है । यही आगम का व्यवहाराभास है और वह तो मिथ्यात्व ही है या वह मिथ्यात्व पोषक होता है ।

समाधान - उपरोक्त दृष्टान्त यहाँ घटित नहीं होता है । इस प्रकार की बात तो रथ्या पुरुष ही कर सकता है । ऐसा माननें से निश्चय व्यवहार में साध्य-साधक भाव नहीं घटित होगा । क्योंकि दोनों को आपने युगपत् माना है । अथवा जैसे घी का आरोप घड़े में किया जाने पर घी का घड़ा कहा जाता है । उसी प्रकार अंदर में विद्यमान घी स्वरूप निश्चय रत्नत्रय का आरोप बाह्य रत्नत्रय में करने से वे व्यवहार रत्नत्रय, रत्नत्रय संज्ञा से प्राप्त होते हैं, ऐसा कहें या मानें तो ये अर्थ निकला कि निश्चय रत्नत्रय ने व्यवहार को, व्यवहार रत्नत्रय संज्ञा दी हो तो व्यवहार साध्य हुआ, निश्चय साधन ।

अथवा दोनों युगपत् ही रहते हैं, तो वे केवलियों के भी होना चाहिए क्योंकि उनके निश्चय रत्नत्रय पाया जाता है । तो फिर व्यवहार रत्नत्रय भी होना चाहिए । अथवा निश्चय (निर्विकल्प) व्यवहार (सविकल्प) दोनों अवस्थाएँ एक ही समय में

घटित होना चाहिए । किन्तु दोनों का युगपत् रहना संभव नहीं है । अथवा निश्चय (वीतराग) व्यवहार (सराग) भी एक साथ होने से जैसे आप सराग के वीतराग सिद्ध करना चाहते हो, वैसे ही उसी युक्ति से वीतराग को भी सराग सिद्ध कर देंगे । अतः इस विषय में दिया गया दृष्टान्त भी दृष्टान्ताभास है ।

२३. शंका - जैसे घी को चाहनेवाला घी के घड़े की ओर निर्देश कर घी लाने को कहता है तथा सेवक घी से भरा घड़ा लाता है, पर उस घी से भरे घड़े को लाये जाने पर भी मालिक घी का ही सेवन करता है और घड़े को त्याग देता है। उसी प्रकार जब तक निश्चय (रत्नत्रय) स्वरूप घी अंदर विराजमान है तब तक व्यवहार स्वरूप घड़ा उस घी स्वरूप निश्चय को सुरक्षित रखता है, उसका लेबल (नाम) अपने वक्ष पर चिपका रखता है। इसलिये वह मिट्टी का होने पर भी उसे घी के घड़े के नाम से पूज्यता आती है, सम्मान मिलता है। उसी तरह जब तक देव शास्त्र गुरु की तथा सात तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा है, लक्षण जिसका ऐसा वह व्यवहार सम्यग्दर्शन उन्हीं का ज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान के रूप से व्यवहार चारित्र रूप यह व्यवहार रत्नत्रय निजशुद्धात्मा का श्रद्धान ज्ञान अनुकरण, लक्षणरूप निश्चय रत्नत्रय को अपने साथ सुरक्षित रखता है, तभी तक उसे मोक्षमार्ग में निश्चय रत्नत्रय के साधक रूप से बहुमान मिलता है। उसे भी पूज्यता आती है। पर अन्दर में घी स्वरूप निश्चय रत्नत्रय न हो तब यही आगम का व्यवहाराभास है। और वह तो मिथ्यात्व ही है या वह मिथ्यात्व पोषक होता है क्या?(पृ.३५, ३६)

समाधान - इस शंका के समाधान पूर्व समाधान में ही समाविष्ट है विशेषता मात्र इतनी है कि जब अंदर में घी स्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग है ही, तो फिर व्यवहार उसका साधक ही कहाँ रहा ? क्योंकि असिद्ध को साधनेवाला ही साधन कहलाता है । सिद्ध को साधना तो उन्मत्त पुरुष की चेष्टावत् ही माना जायेगा । अतः उसे साध्यसाधन भाव मानना भी गलत ठहरेगा । अतः उसे साध्य भी नहीं कहा जा सकेगा । क्योंकि वह उपलब्ध है, सिद्ध है । फिर साध्य कहाँ रहा ?

यद्यपि छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थों का श्रद्धान, साध्य (कार्य कारण) भाव से निश्चय सम्यक्त्व का कारण होने से व्यवहार सम्यक्त्व कहा जाता है । अर्थात् व्यवहार साधक (साधन) है निश्चय साध्य है तो भी निश्चय नय से एक वीतराग परमानंद स्वभाव वाला शुद्धात्मा ही उपादेय है । ऐसी रुचि परिणाम से परिणत हुई आत्मा शुद्धात्मा ही निश्चय सम्यक्त्व है ।

२४. शंका - निश्चय व्यवहार सम्यग्ज्ञान में साध्य-साधक भाव घटित कीजिए?

समाधान - ''यद्यपि निश्चयस्वसंवेदन ज्ञान साधकत्वात्तु व्यवहारेण शास्त्रज्ञानं भवति, तथापि निश्चयनयेन वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानपरिणतः शुद्धात्मैव निश्चयज्ञानं भवति ॥'' **(प.प्र.टी. ९४ पृ. ८९)**

निश्चय स्वसंवेदन ज्ञान का साधक होने से व्यवहारनय कर शास्त्र का ज्ञान भी ज्ञान है । तो भी निश्चयनयकर वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानरूप परिणत हुआ शुद्धात्मा ही निश्चयज्ञान है ।

२५. शंका - निश्चय व्यवहार सम्यक्चारित्र में साध्य--साधक भाव घटित कीजिए ?

समाधान - निश्चयचारित्रसाधकत्वात्मूलोत्तर गुणा व्यवहारेण चारित्रं भवति, तथापि शुद्धात्मानुभूतिरुपवीतराग चारित्र परिणतः स्वशुद्धात्मैव निश्चयनयेन चारित्रं भवतीति । **(प.प्र.टी. ९४ पृ. ८९)**

निश्चय चारित्र के साधक होने से अठ्ठाईस मूलगुण, चौरासी लाख उत्तरगुण, व्यवहारनय चारित्र कहे जाते हैं, तो भी शुद्धात्मानुभूतिरूप वीतराग चारित्र को परिणत हुआ निज शुद्धात्मा ही निश्चयनयकर चारित्र है ।

२६. शंका - अभेद रत्नत्रय को किसी दृष्टान्त द्वारा समझाइए ?

समाधान - ''यथा द्राक्षाकर्पूर श्रीखंडादिबहुद्रव्यैर्निष्पन्नमपि पानकमभेद विवक्षयाकृत्वैकं भण्यते, तथा शुद्धात्मानुभूतिलक्षणैकनिश्चय सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रैर्बहुभिः परिणतो अनेकोऽप्यात्मात्वभेदविवक्षया एकोऽपि भण्यते इति भावार्थः। तथा चोक्तं अभेदरत्नत्रय लक्षणम्'' दर्शनमात्मविनिश्चतिरात्म परिज्ञान मिष्यते बोधः । स्थितिरात्मनिचारितं कुत एतेभ्यो भवति बंधः ॥''
(प.प्र./टी./ ९६/ ९१/४)

जैसे दाख, कपूर, चंदन वगैरह बहुत द्रव्यों से बनाया गया जो पीने का रस वह यद्यपि अनेक स्वरूप है, तो भी अभेदनयकर एक पानवस्तु कहीं जाती है उसी तरह शुद्धानुभूति स्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रादि अनेक भावों से परिणत हुआ आत्मा अनेक रूप है, तो भी अभेदनय की विवक्षा से आत्मा एक ही वस्तु है । यही अभेद रत्नत्रय का स्वरूप जैन सिद्धान्तों में हर एक जगह कहा है । ''दर्शनमित्यादि'' इसका अर्थ ऐसा है, कि आत्मा का निश्चय वह सम्यग्दर्शन है, आत्मा का जानना वह सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में निश्चल होना वह सम्यक्चारित्र है । यह निश्चयरत्नत्रय साक्षात् मोक्ष का कारण है, इनसे बंध कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता ।

(९) आत्मा

जो चेतना अर्थात् ज्ञानदर्शन से युक्त है अर्थात् जिसमें ज्ञान-दर्शन आदि अनंत गुण पाये जाते है वह आत्मा है ।

वह बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा के भेद से तीन प्रकार की होती हैं । शरीरादि पर पदार्थों को आत्मा का स्वभाव मानने वाले १, २, ३ गुणस्थानवर्ती जीव की आत्मा बहिरात्मा है । तथा दोनों के भेद को मानने वाले ४ से १२ वें गुणस्थानवर्ती जीव की आत्मा अतंरात्मा है । जो कि तीन प्रकार की हैं ।

(१) जघन्य अंतरात्मा - ४ वे गुणस्थानवर्ती जीव है ।

(२) मध्यम अंतरात्मा - देशवर्ती श्रावक तथा छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज हैं।

(३) उत्तम अंतरात्मा - ७ से १२ वें गुणस्थानवर्ती वीतरागी शुद्धोपयोगी मुनिराज हैं । १३ से १४ वें गुणस्थानवर्ती मुनि तथा सिद्धों की आत्मा परमात्मा हैं । १ से १२ वे गुणस्थान तक की सभी बहिरात्मा और अंतरात्मा परसमय कहलाती है एवं सिद्धों की आत्मा निकल परमात्मा हैं । तथा सकल व निकल परमात्मा ही स्व- समय है । फिर भी किन्ही किन्ही आचार्यों ने ७ वें गुणस्थान में स्वचरित्र तथा स्वसमय का वर्णन किया है इसके नीचे के गुणस्थानों में नहीं ।

१. शंका - आत्मा किसे कहते हैं ?

समाधान - अक्षणोति, व्याप्नोति जानाति इति आत्मा। (स.सि.)

अर्थात् जो ज्ञानादि चिन्हों से व्याप्त हो जानती हो, वह आत्मा है । अथवा

दर्शनज्ञान चारित्राण्यातंतीत्यत्मेत्यात्म पदस्या भिधेयम् । (स.सा./आ. ८)

अर्थात् जो दर्शन ज्ञान चारित्र को जो सदा प्राप्त हो, वह आत्मा है ।

२. शंका- आत्मा के भेद कितने है ?

समाधान - तिपयारो सो अप्पा परमिंतर बाहिरो दु हेऊणं । (मो.पा./मू. ४)

अर्थात् आत्मा के तीन भेद हैं

(१) बहिरात्मा (२) अंतरात्मा (३) परमात्मा

३. शंका - बहिरात्मा किसे कहते हैं ?

समाधान - बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णिय सरूव चुओ ।

णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठी ओ ॥

णियदेह सरित्थं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण ।

अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परम भाएण ॥(मो.पा. ८-९)

अर्थात् बाह्य धनादिक में स्फुरायमान (तत्पर) है मन जिसका वह इंद्रियों द्वारा अपने स्वरूप से च्युत हैं । अर्थात् इन्द्रियों को और देह को अपना मानता है वह मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है । वह बहिरात्मा मिथ्यात्व भाव से जिस प्रकार अपने देह को आत्मा मानता है उसी प्रकार पर के अचेतन देह को भी अपनी आत्मा मानता हुआ उससे बड़ा यत्न करता है ।

४. शंका - अंतरात्मा किसे कहते हैं?

समाधान - अंतर अप्पा हु अप्प संकप्पो ॥ (मो. पा. ५)

आत्मसंकल्पः शरीर कर्म रागद्वेषाद मोहादि दुःख परिणाम रहितोऽयं ममात्मा वर्तते शरीरे तिष्ठन्न शुद्धनिश्चय नयेन शरीरं न स्पृशति, कर्मबंधन बद्धोपि सन् कर्म बन्धनै र्बद्धो न भवति नलिनीदल स्थित जलवदितीदृशं भेदज्ञानं आत्मा संकल्प उच्यते स आत्म संकल्पो यस्य जीवस्य वर्तते सोऽन्तरात्मा वेदितव्यः । (मो.प्रा.टी. ५)

आत्मा संकल्प अर्थात् शरीर और आत्मा के अंतर को जानने वाला अंतरात्मा है ।

५. शंका - तीनों आत्माओं को स्व-पर समय में घटित कीजिये ?

समाधान - बहिरंतरप्पभेदं परसमयं भण्णदे जिणिंदेहिं ।

परमप्पा सग समयं तब्भेदं जाण गुणठाणे ॥(र.सा. १४०)

तीन प्रकार के आत्माओं में जिनेन्द्र देव ने बहिरात्मा व अंतरात्मा को परसमय बतलाया हैं । तथा परमात्मा को स्वसमय कहा है ।

६. शंका - स्व - समय और परसमय किसे कहते हैं ?

समाधान - जीवो चरित्त दंसण णाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।

पुग्गल कम्मपदेसट्ठियं च तं जाण पर समयं ॥(स.सा. २)

अर्थात् जो जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र में स्थित है उसे स्वसमय जानो तथा जो पौद्‌गालिक कर्मों में स्थित है, उसे परसमय जानो ।

७. शंका - क्या सभी अंतरात्मा परसमय ही हैं ?

समाधान - हाँ, अभेद रत्नत्रय की पूर्णता की दृष्टि (अपेक्षा) से परसमय ही है । किन्तु - वीतराग निर्विकल्प अभेद रत्नत्रय के प्रारंभ की अपेक्षा सप्तम अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती आदि जघन्य स्वसमय भी है । यथा -

आद सहावह्मि ठिदा ते सग समया मुणेदव्वा
(प्र.सा. २/९४ ज्ञेय तत्त्वाधिकार)

स्वचरितं ...... स्व समयं (पं. का/ता.वृ. १६६-१६७)

जो आत्मस्वभाव में लीन है वे स्वसमय हैं ऐसा जानना चाहिए । अथवा स्वचरित्र स्व-समय है, उसे ही स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं । यथा -

स्वरूपे चरणं चारित्रं स्व समय प्रवृत्तिरित्यर्थः (प्र.सा.त.प्र. ७)

८. शंका - क्या, स्वसमय रूप स्वचरित्र मुनि को ही होता है ?

समाधान - हाँ, यथा -

जो सव्वसंगमुक्को णाणमणो अप्पणं सहावेण।
जाणदि पस्सदि णियदं सो सग चरियं चरदि जीवो । (पं.का. १५८)

अर्थात् जो सर्व संग मुक्त और अनन्य मनवाला वर्तता हुआ आत्मा को स्वभाव रूप से नियत जानना व देखता है वह (मुनि) स्वचारित्र आचरता है ।

९. शंका - स्वचारित्र स्वरूप, स्वरूपाचरण व स्वसमय किस गुणस्थान से प्रारंभ होता हैं ।

समाधान - स्वचारित्र, स्वरूपाचरण चारित्र व स्वसमय ये सभी एकार्थी हैं । अतः जहाँ एक होगा वहाँ सब होंगे । शुद्धोपयोग - अप्रमत्त गुणस्थान से क्षीण कषाय गुणस्थान पर्यंत यथा योग्य जघन्य मध्यम व उत्कृष्ट शुद्धोपयोग होता है । अतः उससे अविनाभावी स्वसमय भी ७ वें गुणस्थान से ही प्रारंभ होकर बढ़ते हुए क्रम से आगे के गुणस्थानों में पाया जाता है ।

(१०) संवर

आते हुये कर्मों के रूक जाने को संवर कहते हैं । जो कि गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र में सभी भाव संवर के कारण हो तथा इनके माध्यम से द्रव्यास्रव का रुक जाना द्रव्य संवर है । प्रवृत्ति रूप व्यवहार गुप्ति, समिति पापास्रव का संवर करती है । तथा निवृत्ति रूप निश्चय से शुद्धोपयोग रूप गुप्ति, समिति आदि पुण्य पाप दोनों का संवर करती है । व्यवहार गुप्ति, समिति आदि छटवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है । तथा निश्चय स्वरूप शुद्धोपयोगात्मक गुप्ति, समिति आदि सातवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है । यही दोनों मोक्ष में प्रयोजनीय हैं।

१. शंका - 'संवर' किसे कहते हैं ?

समाधान - आस्रव निरोधः संवरः । **(त.सू. ९/१)**

आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं ।

२. शंका - क्या बंध व्युच्छिति को भी संवर कहते हैं ?

समाधान - हाँ, बंध व्युच्छिति को करणानुयोग की दृष्टि से संवर कहते हैं । अतः प्रथम गुणस्थान में बंध व्युच्छिति नहीं है । अतः वहाँ संवर नहीं हैं । किन्तु दूसरे गुणस्थान से प्रारंभ होता है यथा -

मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने संवरो नास्ति, सासादनादि गुणस्थानेषु ...

बन्धविच्छेदत्रिभङ्गीकथितकमेणोपर्युपरि प्रकर्षेण संवरो ज्ञातव्य इति । (वृ.द्र.सं.टी. ३४, पृ. ७७)

अर्थात् मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थान में तो संवर है ही नहीं और सासादनादि गुणस्थानों में ... बंध विच्छेद (बंध व्युच्छिति) त्रिभंगी में कहें हुए क्रम से अनुसार ऊपर ऊपर अधिकता में संवर जानना चाहिए ।

३. शंका - संवर के मुख्य कितने भेद है ?

समाधान - संवर के मुख्य दो भेद हैं । (१) द्रव्य संवर (२) भाव संवर

निश्चयेन स्वतः सिद्धत्वात्परकारणनिरपेक्षः, स चैवाविनश्वरत्वान्नित्यः परमोद्योतस्वभावत्वात्स्वपरप्रकाशनसमर्थः, अनाद्यनन्तत्वादादिमध्यान्तमुक्तः,

दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारुपनिदानबंधादिसमस्तरागादिविभावमल

रहितत्वादत्यन्तनिर्मलः, परमचैतन्यविलासलक्षणत्वाच्चिदुच्छलननिर्भरः,

स्वाभाविकपरमानन्दैकलक्षणत्वात्परमसुखमूर्तिः, निरास्त्रवसहज स्वभावत्वात्सर्वकर्मसंवरहेतुरित्युक्तलक्षणः परमात्मा तत्स्वभावेनोत्पन्नो योऽसौ शुद्धचेतनपरिणामः स भावसंवरो भवति । यस्तु भाव संवरात्कारण-भूतादुत्पन्नः कार्यभूतो नवतरद्रव्यकर्मागमनाभावः स द्रव्यसंवर इत्यर्थः।

(सविशेष वृ.द्र.सं.टी. ३४ पृ. ७६ पर)

निश्चय नय से स्वयं सिद्ध होने से अन्य कारण की अपेक्षा से शून्य, अविनाशी होने से नित्य, परम उद्योत (प्रकाश) स्वभाव होने से अपने और पर के प्रकाशन में समर्थ अनादि अनंत होने से आदि, मध्य और अंतरहित देखे, सुने और अनुभव में किये हुए जो भोग हैं उनकी आकांक्षा (चाह) रूप जो निदान बंध आदि समस्त रागादिक चैतन्य विलास रूप लक्षण का, धारण का धारक होने से चित् चमत्कार (चिन्मय) स्वरूप, स्वभाविक परमान्द स्वरूप होने से परम सुख की मूर्ति का धारक और आस्त्रव रहित सहज स्वभाव होने से सब कर्मों के संवर में कारण, इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणों का धारक जो परमात्मा हैं उसके स्वभाव से उत्पन्न जो यह शुद्ध चैतन्य परिणाम है, सो भावसंवर है और कारणभूत भाव संवर से उत्पन्न हुआ जो कार्य रूप नवीन द्रव्यकर्मों के आगमन का अभाव है सो द्रव्य संवर है ।

४. शंका - भाव संवर के कितने भेद है ?

समाधान - भाव संवर के मुख्य दो भेद हैं --

(१) केवल पापास्त्रव का संवर,

(२) पाप और पुण्य दोनों का संवर,

व्रतसमितिगुप्तिधर्मद्वादशानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्राणां भावसंवरकारणभूतनां यद्व्याख्यानं कृतं, तत्र निश्चयरत्नत्रयसाधकव्यवहाररत्नत्रयरूपस्यशुभोपयोग-स्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापास्त्रवसंवरणानि ज्ञातव्यानि। यानि तु व्यवहाररत्नत्रयसाध्यस्य शुद्धोपयोगलक्षणनिश्चयरत्नत्रयस्य प्रतिपादकानि तानि पुण्यपापद्वयसंवरकारणानि भवन्तीति ज्ञातव्यम् ।(वृ.द्र.सं. ३५ पृ. ११८)

भावसंवर के कारणभूत व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, द्वादशानुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र इन सबका जो व्याख्यान किया, उस व्याख्यान में निश्चयरत्नत्रय को साधने वाला जो व्यवहार रत्नत्रय रूप शुभोपयोग है उसका निरूपण करने वाले जो वाक्य हैं वे तो पापास्त्रव के संवर में कारण जानने चाहिए । और जो व्यवहार रत्नत्रय से सिद्ध होने योग्य शुद्धोपयोग लक्षण निश्चय रत्नत्रय के प्रतिपादक वाक्य हैं वे पुण्य और पाप इन दोनों आस्त्रवों के संवर के कारण होते हैं, यह समझना चाहिए ।

५. शंका - यहाँ सोमनामक राजसेठ कहता है कि भगवान् ! ये जो व्रत समिति आदिक संवर कर देगी फिर आपने जो विशेष प्रपंच (अधिक विस्तार से कथन) किया है, इससे क्या प्रयोजन है ?

समाधान - इस प्रश्न का उत्तर आचार्य नेमिचन्द्रस्वामी देते हैं कि - मन - वचन - काय इन तीनों की गुप्ति स्वरूप जो निर्विकल्प समाधि (ध्यान) हैं उसमें स्थित जो मुनि है उनके तो उस गुप्ति से ही पूर्ति अर्थात् संवर हो जाते है और उसमें असमर्थ जो जीव हैं उनके नाना प्रकार से संवर का प्रतिपक्षीभूत मोह उत्पन्न होता हैं, इस कारण आचार्य व्रत आदि का कथन करते हैं ।

६. शंका - क्या संवर शब्द से सभी जगह शुद्धोपयोग का ही ग्रहण करना चाहिए ?

समाधान - नहीं, ऐसा कदापि नहीं । अन्यथा -

दूसरे गुणस्थान में होने वाला १६ प्रकृतियों की बंध व्युच्छितिरुप संवर को भी शुद्धोपयोग मानना पड़ेगा । पर वहाँ रत्नत्रय के अभाव में मोक्षमार्ग में प्रयोजन भूत संवर नहीं है ।

७. शंका - तो क्या आध्यात्मिक दृष्टि से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को प्रकृतियों की बंध व्युच्छिति रुप संवर मोक्षमार्ग में ग्राह्य है ।

समाधान - नहीं ! क्योंकि चरणानुयोग में कथित द्रव्य व्यवहार ही संवर तब चतुर्थ गुणस्थान में नहीं है तो फिर अध्यात्म रूप निश्चय संवर ऐसे कैसे हो सकता है क्योंकि अध्यात्म दृष्टि से व्यवहार और निश्चय में साध्य-साधक संबंध है ।

८. शंका - चरणानुयोग कथित व्यवहार संवर किस गुणस्थान से प्रारम्भ होता है ।

समाधान - **"स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजय चारित्रैः । (त.सू.९/२")**

"वद समिदी गुत्तीओ धम्माणुपेहा परिसहजओ य ।

चारित्तं बहु भेया णायव्वा भावसंवरविसेसा" ॥(वृ. द्र. सं. गा. ३५)

अर्थात् ३ गुप्ति, ५ समिति, १० धर्म, १२ अनुप्रेक्षा, २२ परिषह जय और ५ प्रकार का चारित्र एक मात्र मुनि के ही पाये जाते हैं । अथवा ५ महाव्रत, ५ समिति, ३ गुप्ति, १० धर्म, १२ अनुप्रेक्षा, २२ परिषहजय तथा अनेक प्रकार के चारित्र सभी मुनियों के ही पाये जाते हैं। अतः में व्यवहार रूप द्रव्य या भाव संवर एक मात्र मुनियों के ही पाये जाते हैं।

९. शंका - तो फिर यहाँ ४१ प्रकृतियों का संवर कैसे घटित होगा ?

समाधान - जिस कर्म का वहाँ बंध का अभाव है तो वहाँ सहज ही संवर घटित हो जाता है । वह कोई पुरुषार्थ साध्य नहीं है, यही कारण है कि चरणानुयोग उसे संवर के हेतुओं में घटित नहीं करता है ।

१०. शंका - क्या ये व्यवहार रत्नत्रय साधन व निश्चय रत्नत्रय साध्य है ?

समाधान - एवं व्रतसमितिगुप्तिधर्मद्वादशानुप्रेक्षापरिषहजयचरित्राणां भावसंवरकारणभूतानां यद्व्याख्यानं कृतं, तत्र निश्चयरत्नत्रयसाधकव्यवहार रत्नत्रयरुपस्य शुभोपयोगस्य प्रतिपादकानि यानि वाक्यानि तानि पापास्त्रवसंवर कारणानि ज्ञातव्यानि । यानि तु व्यवहार रत्नत्रय साध्यस्य शुद्धोपयोगलक्षण निश्चयरत्नत्रयस्य प्रतिपादकानि तानि पुण्यपापद्वयसंवरकारणानि भवन्तीति ज्ञातव्यम् ॥ (वृ. द्र.सं.टी.गा. ३५/११८)

अर्थात् - इस प्रकार भाव संवर के कारणभूत व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, और चारित्र इन सबका जो पहिले व्याख्यान किया है उस व्याख्यान में निश्चय रत्नत्रय को साधने वाले जो व्यवहार रत्नत्रय रूप शुभोपयोग है; उसका निरूपण करने वाले जो वाक्य हैं वे पापास्त्रव के संवर में कारण जानने चाहिए । और जो व्यवहार रत्नत्रय के साध्य शुद्धोपयोग रूप निश्चय रत्नत्रय के प्रतिपादन वाक्य हैं वे पुण्य तथा पाप इन दोनों आस्त्रवों के संवर के कारण होते हैं, ऐसा समझना चाहिए ।

इस प्रकार निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप संवर में साध्य-साधक भाव को जानना चाहिए ।

११. शंका - क्या चतुर्थ गुणस्थानवर्ती वा पञ्चम गुणस्थानवर्ती जीवों में भी संवर होता हैं ?

समाधान - सम्मत्तं देसवयं महव्वयं तह जओ कसायाणं ।

एदे संवर णामा जोगाभावो तहाचेव ॥ (का.अ. ९५)

सम्यक्त्व, देशव्रत, महाव्रत, कषायों का जीतना और भोगों का अभाव ये सब संवर के नाम हैं । किन्तु यह सब शुभयोग रूप होने से अशुभयोग का संवर करता है । जैसा कि वारसाणुपेक्खा में कहा है -

"सुह जोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स ।

सुह जोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि ॥" (वा.आ. ६३)

मन, वचन, काय की शुभ प्रकृतियों से अशुभोपयोग का संवर होता है और शुद्धोपयोग से शुभोपयोग का भी संवर हो जाता है । पर यह सब कथन भी व्यवहार प्रधान कथन ही है । निश्चय नहीं जानना चाहिए ।

१२. शंका - शुद्धोपयोग रूप संवर क्या चतुर्थ गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक होता हैं ?

समाधान - नहीं, क्योंकि शुद्धोपयोग "**अप्रमत्तादि क्षीण कषाय पर्यंतं तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते**" । **(वृ. द्र. सं. टी. ३४/९६)**

७ वें गुणस्थान से १२ वें गुणस्थान तक शुद्धोपयोग होता है अतः शुद्धोपयोग संबंधी संवर भी ७ से १२ वें गुणस्थान तक ही होता है। १ से ६ गुणस्थान सराग होने से इन गुणस्थानवर्तियों को शुभोपयोग के काल में मुख्य रुप से पाप प्रकृतियों का संवर होता है किन्तु उस समय बुद्धिपूर्वक होने वाले पुण्य कार्यों से पुण्यास्त्रव ही होता है।

१३. शंका - क्या निश्चय स्वरूप संवर मुनियों को ही पाया जाता हैं ?

समाधान - जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्व दव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥
(पं. का. १४२)

जिसे सर्व द्रव्यों के प्रति राग द्वेष या मोह नहीं है उस सम सुख-दुःख भिक्षु (शुद्धोपयोगी) को शुभ और अशुभ कर्म आस्त्रवित नहीं होते हैं ।

१४. शंका - चतुर्थ गुणस्थान में ४१ प्रकृतियों का संवर एक मात्र शुद्धोपयोग से ही होता हैं ।

समाधान - यह एक गलत धारणा है । यदि चतुर्थ गुणस्थान में ४१ प्रकृतियों का संवर तो अधिक से अधिक साधिक दो छयासठ सागर तक संभव हैं अतः शुद्धोपयोग भी जब तक रहना चाहिए किन्तु नहीं रहता हैं क्योंकि वह तो ध्यान स्वयं होता है और ध्यान पर्याय अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त से अधिक रहती नहीं है । अतः जहाँ - जहाँ संवर है वहाँ - वहाँ शुद्धोपयोग हो भी सकता है और नहीं भी हो किन्तु जहाँ जहाँ शुद्धोपयोग है वहाँ वहाँ तो नियम से संवर होगा ही और तब तक शुद्धोपयोग रहेगा तब तक निरंतर संवर चलता रहेगा ॥

यद्यपि षड्द्रव्यपञ्चास्तिकाय सप्ततत्व नवपदार्थाः साध्यसाधकभावेन निश्चयसम्यक्त्वहेतुत्वाद्व्यवहारेण सम्यक्त्वं भवति, तथापि निश्चयेन

वीतरागपरमानन्दैक स्वभावः शुद्धात्मोपादेय इति रूचिरूप परिणाम परिणत शुद्धात्मैव निश्चय सम्यक्त्वं भवति । (प. प्र. टी. १/९४)

यद्यपि छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थों का श्रद्धान साध्य साधक (कार्यकारण) भाव से निश्चय सम्यक्त्व का कारण होने से व्यवहार सम्यक्त्व कहा जाता है अर्थात् व्यवहार साधक (साधन) है निश्चय साध्य है तो भी निश्चय नय से एक वीतराग परमानन्द स्वभाव वाला शुद्धात्मा ही उपादेय है रुचि रूप परिणाम से परिणत हुआ आत्मा शुद्धात्मा ही निश्चय सम्यक्त्व हैं ।

१५. शंका - प. प्र. टीका गा. ९३ में कहा था कि (**"स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचि कारणान्निश्चय सम्यक्त्वं भवति"**) अपनी शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचि करने से निश्चय सम्यग्दर्शन होता है किन्तु यहाँ कहते हो कि (**निश्चयेन वीतराग परमानंदैक स्वभावः शुद्धात्मोपादेय इति रुचि परिणाम परिणत शुद्धात्मैव निश्चय सम्यक्त्वं भवति**) निश्चय से एक वीतराग परमानंद स्वभाल वाली शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी रुचि रुप परिणाम से परिणत शुद्धात्मा ही निश्चय सम्यक्त्व है । ऐसा कह रहे हो, दोनों में अन्तर हैं । अर्थात् शुद्धात्मा उपादेय है ऐसी रुचि तथा शुद्धात्मा उपादेय हैं ऐसी रुचि रूप परिणाम से परिणत शुद्धात्मा निश्चय सम्यक्त्व है, दोनों में अन्तर हैं ।

समाधान - जब तक शुद्धात्मा उपादेय है ऐसी मात्र भावनात्मक रुचि रहती है तब तक वह वास्तविकता में सराग सविकल्प रूप व्यवहार सम्यग्दर्शन ही है, उसे मात्र उपचार से निश्चय सम्यग्दर्शन कह दिया जाता है और वह गृहस्थावस्था में भी संभव है । किन्तु वह वास्तविकता में निश्चय सम्यक्त्व नहीं है । (देखें सम्यक्चारित्र प्रकरण में शंका समाधान नं. १९) और जब शुद्धात्मा उपादेय है, इसी रुचि या परिणाम परिणति । वीतराग निर्विकल्प धर्म/शुक्ल ध्यान रूप लीनता ।) जब मुनियों को होती है तब उन्हें यह वास्तविक निश्चय सम्यग्दर्शन होता है, यद्यपि यह अभेद रत्नत्रयात्मक अवस्था ही है ।

(११) शुद्धोपयोग

शुद्धोपयोग वह अध्यात्म शैली में प्रतिपादित शब्द है, इसे ही निश्चय अभेद, रत्नत्रय या मोक्षमार्ग कहते हैं । इसे ही निश्चय वीतराग निर्विकल्प रूचि एवं संवेदन स्वानुभूति आदि शब्दों से पुकारा जाता है । आगम इसे सविकल्प, सराग, भेद व्यवहार रत्नत्रय के द्वारा साधा जाने वाला सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के आवारक कर्मों के उपशम क्षय क्षयोपशम के साथ होने वाला वीतराग निर्विकल्प धर्म ध्यान कहता है ।

इसे मुनिजन अप्रमत्तादि गुणस्थानों में प्राप्त करते हैं । अप्रमत्त गुणस्थान में भी अत्यन्त जघन्य ही शुद्धोपयोग होता है, ८-११ गुणस्थान में मध्यम और बारहवें गुणस्थान में उत्कृष्ट तथा १३-१४ वें गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल होता हैं ।

१-६ गुणस्थानों में किंचित् शुद्धोपयोग नहीं होता है।

१. शंका - शुद्धोपयोग किसे कहते हैं ?

समाधान - बाह्याभ्यंतरं परिग्रह रूपं सर्व त्याज्यमित्युत्सर्गो निश्चय नयः सर्व परित्यागः परमोपेक्षासंयमो वीतराग चारित्रं शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थः। (प्र.सा./ता.वृ. ३/३०)

अर्थात् बाह्य और आभ्यंतर सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग उत्सर्ग नय, सर्व परित्याग, परम उपेक्षा संयम और वीतराग चारित्र ये सभी एकार्थवाची हैं ।

''ज्ञानेन निर्वृत्त ज्ञानात्मकं केवल ज्ञानान्तर्भूतानन्त गुणात्मकं निजात्मानं शुद्ध ध्यान प्रतिपक्षभूत समस्त मनोरथ रूप चिंता जाल त्यागेन ध्यायामीति शुद्धोपयोग लक्षणं ज्ञातव्यं ।'' (प्र. सा. / ता. वृ. २/६७)

ज्ञान से उत्पन्न और ज्ञान रूप केवलज्ञान में समाहित अनंत गुणात्मक अपनी आत्मा को शुद्धध्यान से विरोधी समस्त विकल्प जाल से रहित ध्यान करना शुद्धोपयोग का लक्षण है, ऐसा जानना चाहिए ।

२. शंका - शुद्धोपयोग के कितने भेद है, तथा वह कौन-कौन से गुणस्थानों में होता है ?

समाधान - जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से शुद्धोपयोग के मुख्य तीन भेद हैं।

(१) जघन्य शुद्धोपयोग सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान में होता है ।

(२) मध्यम शुद्धोपयोग आठवें गुणस्थान से ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता हैं।

(३) उत्कृष्ट शुद्धोपयोग बारहवें क्षीणमोह नामक गुणस्थान में पाया जाता हैं। (वृ.द्र.सं.टी. ३४ पृ. ७७)

३. शंका - शुद्धोपयोग में ध्येय भूत वस्तु क्या है ?

समाधान - **''शुद्धोपयोगे शुद्ध बुद्धैकस्वभावो निजात्मा ध्येयस्तिष्ठति तेन कारणेन शुद्ध्येयत्वाच्छुद्धावलम्बनत्वाच्छुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगो घटते''** । शुद्धोपयोग में शुद्ध - बुद्ध एक स्वभाव का धारक जो निज आत्मा है, सो ध्येय होता है । इस कारण शुद्ध ध्येय (ध्यान करने योग्य पदार्थ) होने से शुद्ध अवलम्बन आधारपने से तथा शुद्ध आत्मस्वरूप का साधक होने से इस उपयोग को शुद्धोपयोग कहा जाता है । **(वृ. द्र. सं. टी. ३४)**

४. शंका - तीनों प्रकार के उपयोग किस नय का विषय हैं ?

समाधान - **''मिथ्यादृष्ट्याक्षीणकषायपर्यन्तमुपर्युपरिमन्दत्वान्तारतम्येन तावदशुद्धनिश्चयो वर्त्तते ।''** **(वृ.द्र.सं.टी. ३४ पृ. ७६)**

मिथ्यात्वगुणस्थान को आदि लेकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान पर्यन्त ऊपर-ऊपर तारतम्य से अशुद्ध निश्चय वर्तता है ।

५. शंका - शुद्धोपयोग क्या गृहस्थ को नहीं हो सकता है, मात्र मुनि को ही होता हैं ?

समाधान - **''किं जंसो गिहवंतो बहिरंतर गंथ परमिओणिच्चं ।**
बहु आरंभ पउत्तो कह झायड सुद्धमप्पाणं ॥''
(भा.सं. ३८४)

जो गृहस्थ बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह से युक्त बहुत आरंभ में प्रयुक्त है, वह शुद्धात्मा का ध्यान कैसे कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता है ।

''जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं ।
शुद्धं च णिरालंवं ण मुणइ सो आयमो जइणो'' **(भा.सं. ३८२)**

जो कोई ऐसा कहता है कि गृहस्थों को निश्चय निरालंब एवं शुद्ध ध्यान होता है वह नियम से जैनागम का ज्ञाता नहीं है ।

६. शंका - शुद्धोपयोगी मुनि का लक्षण क्या है ?

समाधान - **''सुविदित पयत्थ सुत्तो संजम तव संजुदो विगदरागो ।**

समणो सम सुह दुक्खो भणिदो शुद्धोवओगोत्ति ॥''
(प्र. सा. /मू. /१४)

अर्थात् जिसने पदार्थ और सूत्रों को अच्छी तरह से जान लिया है । जो संयम, तप से युक्त है, वीतरागी है, सुख-दु:ख में समता रखने वाला है ऐसे श्रमणों को ही शुद्धोपयोगी कहा गया हैं ।

७. शंका - कुछ लोग इस गाथा के चारों विशेषणों द्वारा पृथक्-पृथक् शुद्धोपयोग के लक्षण घटित करते हैं । जैसे ''**सुविदित पयत्थ सुत्तो**'' इस विशेषण का अर्थ एवंभूत नय से स्वपर भेद विज्ञान करते हैं और इसे चतुर्थ गुणस्थान से भूमिका या निज रूप मानकर शुद्धोपयोग घटित करते हैं ।

''**संजम तव संजुदो विगदरागो**'' चतुर्थ गुणस्थानवर्ती उपरोक्त काल में उक्त समस्त इच्छाओं से रहित होने के कारण संयम और तप से सहज ही युक्त रहता है। अथवा इस विशेष को ५-१० वें गुणस्थान तक घटित करते हैं । और वहाँ से उनमें शुद्धोपयोगी मानते हैं **विगत रागोत्ति** यह विशेषण क्रमश: ४, ८, १२ कषायों का अभाव होने से चौथे पाँचवें तथा छठे आदि गुणस्थान में लगाते हैं । अथवा पूर्णता की अपेक्षा ११ वें और १२ वें गुणस्थान में लगाते हैं ।

''**सम सुह दुक्खो**'' विशेषण ५ वें गुणस्थान से प्रारम्भ कर पूर्णता १३, १४ वें गुणस्थानवर्तियों व सिद्धों में घटित करते हैं ऐसा अर्थ ही क्या उचित है । (यदि ''**समणो**'' इस पाँच वें विशेषण का अर्थ और करते तो फिर सभी शंकाओं का समाधान स्वत: ही हो जाता)

समाधान - अत: उपरोक्त शंकाओं का एक ही समाधान है । प्रवचनसार की लगभग जितनी भी टीकाएँ आज तक जैनाचार्यों ने की हैं उनमें उक्त गाथा के चार विशेषणों में पृथक् शुद्धोपयोग के लक्षण किसी भी आचार्यों ने घटित नहीं किये अपितु सभी ने इनकी युगपत् अवस्था स्वरूप अभेद रत्नत्रय-मय एकता को ही शुद्धोपयोग कहा है । यही कारण है कि किसी भी आचार्यों ने चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धोपयोग ही नहीं माना है । तो भूमिका स्वरूप शुद्धोपयोग का सवाल ही नहीं रह जाता है । इसका प्रारम्भ सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान से ही होता है । तथा यदि शुद्धोपयोग को ही सिद्ध करना है, तो फिर इतना ऊहापोह क्यों ? स्पष्ट करना चाहिए कि मोहनीय कर्म का पूर्ण उपशम हो जाने से औपशमिक रूप पूर्ण शुद्धोपयोग ग्यारहवें गुणस्थान में होता है । तथा मोहनीय कर्म के पूर्ण क्षय हो जाने क्षायिक रूप पूर्ण शुद्धोपयोग बारहवें गुणस्थान में होता है । तथा तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग नहीं होता अपितु शुद्धोपयोग का फल होता है । क्योंकि दोनों में कारण कार्य का भेद है । तथा सातवें गुणस्थान में ही बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने से एकदेश नयाश्रित शुद्धोपयोग का

प्रारम्भ होता है । यही जैनाचार्यों का व आगम का एक मत है । कि "अप्रमत्तादिषु क्षीणकषाय पर्यंत जघन्य मध्यमोत्कृष्ट भेदेन विविक्षितैकदेशशुद्ध नय रूप शुद्धोपयोगो वर्तते ।" अतः इस आगम वाक्य के अन्यथा प्रतिपादन करने का अनावश्यक श्रम नहीं करना चाहिए ।

८. शंका - अशुद्ध निश्चय नय में शुद्धोपयोग कैसे घटित होता हैं ?

समाधान - "अप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन विवक्षितैकदेशशुद्धनयरूपशुद्धोपयोगो वर्तते ।" (वृ.द्र.सं.टी. ३४ पृ. ७७)

अप्रमत्त आदि क्षीणकषायपर्यन्त छह गुणस्थानों में जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से विवक्षित एकदेश शुद्धनयरूप शुद्ध उपयोग वर्तता है ।

९. शंका - शुद्धोपयोग क्या अभेद रत्नत्रयात्मक पर्याय है ?

समाधान - "सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिज परमात्मद्रव्यसम्यक् - श्रद्धानज्ञानानुचरण पर्यायरुपेण परिणमति। तच्च परिणमन मागम- भाषायौपशमिक क्षायोपशमिक क्षायिकं भावत्रयं भण्यते ।अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते । स च पर्यायः शुद्ध पारिणामिक भावलक्षण शुद्धात्मद्रव्यात्मकथंचिद्भिन्नः । कस्मात्? भावनारुपत्वात्। शुद्ध पारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति। यद्येकान्तेना शुद्ध पारिणामिकादभिन्नो भवति तदास्य भावनारुपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुद्धपारिणामिक भावस्यापि विनाशः प्राप्नोतिः न च तथा। ततः स्थितं शुद्धपारिणामिक भावविषये या भावना तद्रूपं यदौपशमिक दिभावत्रयं तत्समस्तरागादिरहितत्वेन शुद्धोपादानकारणत्वान्मोक्षकारणं भवति, न च शुद्धपारिणामिकः ॥"(स.सा./ ता.वृ. ३२०)

निजपरमात्मद्रव्य के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और आचरण की पर्याय के रुप में परिणमन करता है उसी ही परिणमन को आगम भाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव इन तीनों नामों से कहा जाता है । वही अध्यात्मभाषा में शुद्धात्मा के अभिमुख परिणाम कहलाता है, जिसको शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायरुप नाम से कहते है । वह शुद्धोपयोग रुप पर्याय भी शुद्धपारिणामिकभाव है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न रुप होती है क्योंकि वह भावनारूप होता है । किन्तु शुद्धपारिणामिक भाव भावनारूप नहीं होता है । यदि इस भावना रूप परिणाम को एकान्तरुप से शुद्धपारिणामिकभाव से अभिन्न ही मान लिया जाय तो मोक्ष का कारणभूत भावनारूप परिणाम का तो, मोक्ष हो जाने पर नाश हो जाना चाहिए ? सो ऐसा है नहीं ।इसलिये यह निश्चिय है कि शुद्धपारिणामिकभाव के विषय में जो

भावना है उस रुप जो औपशमिकादि तीन भाव हैं सो रागादिक समस्त विकारभावों से रहित होने से शुद्ध - उपादान के कारण रूप है इसलिये मोक्ष के कारण होते है, किन्तु शुद्ध पारिणामिक भाव मोक्ष का कारण नहीं है । एक बात का और ध्यान रखना चाहिए शुद्धोपयोग निर्विकल्प वीतराग धर्मध्यान है जो कि चारित्र गुण की पर्याय है ।

१०. शंका - शुद्धोपयोग जीव की क्या शुद्ध पर्याय है या अशुद्ध पर्याय ?

समाधान - "संवरशब्दवाच्यः शुद्धोपयोगः संसारकारणभूत मिथ्यात्वरागाद्यशुद्धपर्यायवदशुद्धो न भवति तथैव फलभूतकेवलज्ञानलक्षण शुद्धपर्यायवत् शुद्धोऽपि न भवति किन्तु ताभ्यामशुद्धशुद्ध पर्यायाभ्यां विलक्षणं शुद्धात्मानुभूतिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमेकदेशव्यक्तिरूपमेक-देशनिरावरणं च तृतीयमवस्थान्तरं भण्यते ।"

(वृ.द्र.सं.टी.गा. ३४ पृ. ७७)

'संवर' इस शब्द से कहे जाने योग्य जो शुद्धोपयोग है सो संसार के कारणभूत जो मिथ्यात्व, राग आदिअशुद्ध पर्याय है उनकी तरह अशुद्ध नहीं होता है, और इसी प्रकार फलभूत जो केवलज्ञान स्वरूप शुद्धपर्याय है उसकी भांति शुद्ध भी नहीं होता है । किन्तु उन अशुद्ध तथा शुद्ध दोनों पर्यायों से विलक्षण, शुद्ध आत्मा के अनुभवस्वरूप निश्चयरत्नत्रयरुप, मोक्ष का कारण, एक देश में व्यक्तिरूप (प्रकटरूप) और एक देश में आवरण रहित ऐसा तृतीय अवस्थान्तर रूप कहा जाता है ।

११. शंका - कारणानुसार ही कार्य होता हैं, अतः यदि कार्य शुद्ध हो रहा है तो फिर उसके कारण भी शुद्ध होना चाहिए, तृतीय (क्षायोपशमिक) अवस्था रूप नहीं होना चाहिए ।

समाधान - केवलज्ञानं सकलनिरावरणं शुद्धं तस्य कारणेनापि सकलनिरावरणेन शुद्धेन भाव्यम्, उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात्। तस्यकारणे तत्रोत्तरं दीयते-युक्तमुक्तं भवता परं किन्तूपादानकारणमपि षोडशवर्णिकासुवर्णकार्यस्याधस्त नवर्णिकोपादानकारणवत्, मृन्मयकलशकार्यस्य मृत्पिंडस्थासकोशकुशूलोपादान कारणवदिति च कार्यादेकदेशेन भिन्नं भवति । यदि पुनरेकान्तेनोपादानकारणस्य कार्येण सहाभेदो भेदो वा भवति तर्हि पूर्वोक्तसुवर्णमृत्तिकादृष्टान्तद्वयवत्कार्यकारण- भावो न घटते। ततः किं सिद्धं एकदेशेन निरावरणत्वेन क्षायोपशमिक-ज्ञानलक्षणमेकदेशव्यक्ति रूपं विवक्षितैकदेशे शुद्धनयेन संवरशब्दवाच्यं शुद्धोपयोगस्वरूपं मुक्तिकारणं भवति। यच्च लब्ध्यपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदजीवे नित्योद्घाटं निरावरणं ज्ञानं श्रूतये तदपि सूक्ष्मनिगोद सर्व जघन्यक्षयोपशमापेक्षया निरावरणं न च सर्वथा। कस्मादिति चेत् तदावरणे जीवाभावः प्राप्नोति। वस्तुत उपरितनक्षायोपशमिक.....ज्ञानाभावाच्च क्षायोपशमिकमेव। यदि पुनर्लोचनपटलस्यैकदेशनिरावरणवत्केवलाज्ञानांशरूपं भवति तर्हि तेनैकदेशेनापि

लोकालोकप्रत्यक्षतां प्राप्नोति न च तथा दृश्यते । किन्तु प्रचुरमेघप्रच्छादितादित्य-बिम्बवन्निबिडलोचनपटलवद्वा स्तोकं प्रकाशयतीत्यर्थः ॥
(वृ.द्र.सं.टी. ३४ पृ. ७८)

यह कोई शंका करता है कि, केवलज्ञान समस्त आवरणों से रहित और शुद्ध है। इसलिये केवलज्ञान का कारण भी समस्त आवरणों से रहित तथा शुद्ध होना चाहिये, क्योंकि उपादान कारण के समान कार्य होता है, ऐसा वचन है । अब इस शंका का उत्तर दिया जाता है कि आपने ठीक कहा परन्तु उपादान कारण भी सोलहवानी के सुवर्णरूप कार्य के अधोभागवर्तिनि पूर्ववर्त्तिनी वर्णिकारूप उपादान कारण के समान और मृतिकारूप कलश कार्य के प्रति मृत्तिका, पिण्ड, स्थास, कोश एवं कुशूलरूप उपादान कारण के सदृश कार्य से एक देश से भिन्न होता है अर्थात् सोलहवानी के सोने के प्रति जैसे पहले की सब पंद्रह वर्णिकायें उपादान कारण है और घट के प्रति जैसे मृत्ति का पिंड, स्थास, कोष कुशूल आदि उपादान कारण है सो सोलहवानी के सुवर्ण और घटरुप कारणों से एकदेश भिन्न है । (सर्वथा सोलह वाणी के सुवर्णस्वरूप तथा घटरुप नहीं है । इसी प्रकार समस्त उपादान कारण कार्य से एकदेश भिन्न होते है । और यदि सर्वथा उपादान कारण का कार्य के साथ अभेद हो तो पूर्वोक्त जो सुवर्ण मृतिका को दो दृष्टान्त हैं । उनके समान कार्य और कारण भाव ही नहीं सिद्ध हो अर्थात् सोलह वानी के सुवर्ण को ही सोलहवानी के सुवर्णरूप कार्य के प्रति उपादान कारण माना जावें । अथवा घट को ही घट के प्रति उपादान कारण मानें तो यह इसका कारण है । यह इसका कार्य है इस प्रकार का कार्य कारण भाव नहीं हो सकता । इस कारण क्या सिद्ध हुआ कि एकदेश निरावरणता से क्षायोपशमिक ज्ञान रूप लक्षण का धारक एकदेश व्यक्ति रूप और विवक्षित एकदेश में शुद्ध नय से "संवर" इस शब्द से वाच्य जो शुद्धोपयोग का स्वरूप है सो मुक्ति का कारण होता है । और जो लब्धिअपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव में नित्योद्‌घाटित (खुला हुआ) तथा आवरण रहित ज्ञान सुना जाता है वह भी सूक्ष्म निगोदिया जीव में सर्व जघन्य जो क्षयोपशम है उसकी अपेक्षा से आवरण रहित है, सर्वथा नहीं । ऐसा क्यों ? इसका उत्तर यह है कि यदि ज्ञान का आवरण ही हो तो जीव का अभाव प्राप्त होता है अर्थात् उपरितनवर्ती क्षायोपशमिक ज्ञान की अपेक्षा से और केवलज्ञान की अपेक्षा से वह ज्ञान भी आवरण सहित है और संसारी जीव के क्षायिक ज्ञान का अभाव है इसलिए क्षायोपशमिक ही है और यदि नेत्र पटल के एकदेश में निरावरण के तुल्य वह ज्ञान केवलज्ञानांश रूप हो तो उस एकदेश से भी लोक व अलोक का प्रत्यक्ष प्राप्त हो जाए अर्थात लोक, अलोक प्रत्यक्ष में जान पड़े परंतु ऐसा नहीं देखा जाता किन्तु अधिक मेघों (बादलों) से आच्छादित सूर्य के बिंब के समान अथवा निविड नेत्रपटल के समान वह किंचित् किंचित् प्रकाश करता है, यह तात्पर्य है ।

परिशिष्ट

सांकेतिक ग्रंथ सूचि

१.	अ. पा.	अभिषेक पाठ
२.	आ. प. सू.	आलाप पद्धति सूत्र आचार्य श्री देवसेन विरचित्त (वि.स. ९-१० वी. शता.) प्रकाशक : श्री अनेकान्त विद्वत् परिषद, लोहारिया
३.	आ.प. - अ.न.प्र.	आलाप पद्धति - अध्यात्मनय प्रकाश हिन्दी टीका
४.	आ.सा.मू.	आराधना सार मूल आ. श्री देवसेन विरचित (वि.सं. ९-१० वी शताब्दी) प्रकाशक
५.	आप्त मी.	आप्तमीमांसा
६.	का. व्या. टीका	कातंत्र व्याकरण । शर्ववर्मकृत, भावसेन त्रैविधकृत दि. साहित्य प्रकाशन समिति, वरेला (जबलपुर)
७.	का. अ. मू.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा मूल मुनि श्री कार्तिकेय विरचित (२-३ शताब्दी) प्रकाशक : परमाश्रुत प्रभावक मण्डल, आगास
८.	क्ष. चू. मू.	क्षत्र चूड़ामणी मूल आ. श्री वादीभसिंह विरचित ९ वी शताब्दी प्रकाशक : सरल जैन ग्रन्थमाला चरहाई, जबलपुर
९.	गो. सा. जी. मू.	गोम्मटसार जीवकाण्ड मूल आ. श्री सिद्धांत चक्रवर्ती नेमिचंद्राचार्य (ई. सन् ५० वी शताब्दी) प्रकाशक : श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, आगास
१०.	गो.जी.म.प्र.टी.	गोम्मटसार जीवकाण्ड मन्द प्रबोधिनी टीका टीकाकार : श्री सिद्धान्त चक्रवर्ती अभयचंद्राचार्य (ई. स. १३ वी शताब्दी) प्रकाशक : श्री भारतीय

ज्ञानपीठ, दिल्ली

११.	ज्ञा. मू.	ज्ञानार्णव मूल आ. श्री शुभचंद्राचार्य विरचित (वि. सं. ११ वी शताब्दी) प्रकाशक : त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर
१२.	ज. ध.	जय धवला
१३.	त. सू.	तत्त्वार्थ सूत्र आ. श्री गृद्धपिच्छ विरचित (द्वितीय शताब्दी) प्रकाशक : श्री सरल ग्रंथमाला, जबलपुर
१४.	त.अ.मू.	तत्वानुशासन मूल मुनि श्री नागसेन विरचित प्रकाशक : श्री अनेकान्त विद्वत् परिषद, लोहारिया
१५.	ति. प.	तिलोयपण्णति, जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर प्रं. सं, वि.स. १९९९
१६.	ध. टी.	धवला टीका टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य (ई. सन् ८१६)
१७.	न.च.गा.	नयचक्र गाथा
१८.	न.च.मा.	नयचक्र (माइहल)
१९.	न.च.श्रुत	नय चक्र श्रुतभवन दीपक सिद्धसागर, सोलापूर
२०.	न.च.सं.श्लो	नय चक्र संस्कृत श्लोक
२१.	न.च.प्रा.	नय चक्र प्राकृत आ. श्री भावसेन विरचित प्रकाशक : श्री भारतीय ज्ञानरपीठ, दिल्ली
२२.	नि.सा.मू.	नियमसार मूल आ. श्री कुन्द कुन्द देव विरचित (प्रथम शताब्दी) प्रकाशक : त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर
२३.	न.च.प्रा.मा.	नय चक्र प्राकृत (माइल्ल)

२४. पं. अ. पू. पंचाध्यायी पूर्वार्ध
प. देवकीनन्दन प्र.सं., ई १९३२

२५. पु.सि.मू. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय मूल
आ.श्री अमृतचंद्र विरचित (१० वीं शताब्दी)
प्रकाशक : परमश्रुत प्रभावक मंडल, आगास

२६. पं.सं. पंच संग्रह - प्राकृत
भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली

२७. पं.का.मू. पंचास्तिकाय मूल
आ.श्री. कुन्दकुन्द देव विरचित (प्रथम शताब्दी)
प्रकाशक : श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, आगास

२८. पं.का.ता.वृ.टी. पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति टीका
टीकाकार : आ. श्री जयसेनाचार्य
(ई.स. ११ वीं शताब्दी)
प्रकाशक : श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल

२९. प.प्र.ता.वृ.टी. परमात्म प्रकाश तात्पर्य वृत्ति टीका

३०. प.पं.मू. पद्मनंदी पंचविंशतिका मूल
आ. श्री पद्मनंदी विरचित् (ई. स. १० वीं शताब्दी)
प्रकाशक : श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, आगास

३१. प.प्र.टी. परमात्म प्रकाश टीका
टीकाकार : श्री ब्रह्मदेव सूरी (ई. स. १२ वीं शताब्दी)
प्रकाशक : श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, आगास

३२. प्र.सा. प्रवचन सार
आ. श्री कुन्दकुन्द देव विरचित (प्रथम शताब्दी)
प्रकाशक : श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, आगास

३३. प्र.सा.ता.वृ.टी.गा. प्रवचन सार तात्पर्यवृत्ति
टीकाकार श्री जयसेनाचार्य
अनेकान्त विद्वत् परिषद्, लोहारिया

३४. बा.अ.मू. बारस अणुबेक्खा मूल

आ.श्री कुन्दकुन्द देव विरचित (प्रथम शताब्दी)
प्रकाशक

३५.	भक्ता.	भक्तामर स्तोत्र आ.श्री मानतुंग विरचित
३६.	भ.आ.	भगवती आराधना आ.श्री शिवकोटि विरचित (ई. सन् २-३ शताब्दी) प्रकाशक : आ. शांतिसागर सिद्धांत संरक्षक संग, फलटण
३७.	भा. पा.	भाव पाहुड आ. कुन्दकुन्द देव विरचित (प्रथम शताब्दी) प्रकाशक : श्री अनेकान्त विद्वत परिषद, लोहारिया
३८.	भा. सं.	भाव संग्रह मूल (प्राकृत) आ. देवसेन विरचित (वि. सं. ९-१० शताब्दी) प्रकाशक
३९.	मो. पा.	मोक्ष पाहुड आ. श्री कुन्दकुन्द देव विरचित (प्रथम शताब्दी) प्रकाशक : श्री अनेकान्त विद्वत परिषद, लोहारिया
४०.	र.सा.	रयण सार आ. श्री कुन्दकुन्द देव विरचित (प्रथम शताब्दी) प्रकाशक : श्री अनेकान्त विद्वत परिषद, लोहारिया
४१.	र. मा.	रत्नमाला (शिवकोटि कृत)
४२.	रा. वा. टी. (७ वीं शताब्दी)	राजवार्तिक टीका टीकाकार आ. श्री अकलंक देव विरचित प्रकाशक : श्री भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली
४३.	श्लो. वा.	श्लोक वार्तिक (अपरनाम तत्वार्थ श्लोक वार्तिक) आ. श्री विद्यानन्द स्वामी विरचित श्री जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर

४४.	वृ. द्र. सं. टी.	वृहद् द्रव्य संग्रह टीका श्री सिद्धांत देव नेमीचंद्र विरचित
४५.	वि. पा.	विनय पाठ (पं. नाथूराम कृत)
४६.	ष. खं.	षट्खंडागम् आ. श्री पुष्पदंत भूतबली प्रणीत(ई. स. १२ वीं शताब्दी) प्रकाशक श्री जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर
४७.	स. सि.	सर्वार्थसिद्धि टीकाकार : पूज्यपाद आचार्य श्री देवदन्दि
	(७ वीं शताब्दी)	
४८.	स.सा.	समयसार आ. श्री कुन्द कुन्द देव विरचित (प्रथम शताब्दी) प्रकाशक : श्री परमाश्रुत प्रभावक मंडल, आगास
४९.	स.सा.ता.वृ.टी.	समयसार तात्पर्य वृत्ति टीका टीकाकार : श्री जयसेनाचार्य (ई. सन् ११ वीं शताब्दी) प्रकाशक : श्री परमाश्रुत प्रभावक मंडल, आगास
५०.	सं. न. चं. श्लो.	संस्कृत नय चक्र श्लोक
५१.	स. सा. आ. टी.	समयसार (आत्मख्याति टीका) टीकाकार : श्री अमृतचंद्राचार्य श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, आगास
५२.	मूला.	मूलाचार -- आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी

आदर्शमयी जीवन की सोपान नैतिक शिक्षा

जीवन में लौकिक शिक्षा ही नहीं नैतिक शिक्षा भी अत्यंत आवश्यक है और धर्म हमें नैतिकता सिखाता है । हम कैसे बैठें ? कैसे चलें ? कैसे बोलें? आदि सब सिखाता है । नैतिकता की सबसे बड़ी शिक्षा हमें परमात्मा अथवा गुरु के द्वारा प्राप्त होती है ।

उपसर्ग विजेता प.पू. गणाचार्य श्री 108 विराग सागरजी महाराज द्वारा लिखित, सम्पादित एवं संकलित तथा श्री सम्यग्ज्ञान दिगम्बर जैन विराग विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित सत् साहित्य

सं.	नाम	मूल्य	पृष्ठ

लेखन साहित्य

संस्कृत टीका साहित्य

1.	**सर्वोदयी टीका (वारसाणुपेक्खा)**	150	

प.पू. आचार्य कुंदकुंद स्वामी के 2000 वर्ष प्राचीन वारसाणुपेक्खा ग्रंथ पर 'प्रथम बार' लिपिबद्ध की गई सर्वोदयी संस्कृत टीका । जो कि 21वीं सदी की प्रथम विशद व्याख्यान सहित टीका है । जिसमें सभी अनुयोगों के अनेक ग्रंथों से लिये गये आगमोक्त प्रमाणों के साथ मर्मस्पर्शी, विशद् तथा सरस, सुगम व्याकरण की परिशुद्धता के साथ-साथ अनेक उद्धरण व नवीन चिंतनो को अनुपम लेखन शैली के माध्यम से आगम के अमृत को परोसा गया है । इस ग्रंथ का विषय विश्लेषण आध्यात्मिक विकास का अमोध सोपान है मात्र 3 माह 18 दिन में पू. गुरुवर द्वारा रचित यह कृति अपने सरलीकरण एवं भाषा सौष्ठव के कारण न केवल जन मानस अपितु बड़े-बड़े मूर्धन्य विद्वानों के लिये आकर्षण का केन्द्र बनेगी।

रत्नत्रय वर्द्धिनी टीका (रयणसार)

शोधपूर्ण साहित्य

2.	**शुद्धोपयोग**	25	185

शुद्धोपयोग विषयक भ्रान्तिओं का जड़ से उन्मूलन करनेवाली, लगभग 51 शास्त्रों के अन्वेषणपूर्ण गहन मनन चिंतन तथा उनके लगभग 315 उद्धारणों से निर्मित आगमोक्त प्रमाणों से युक्त शोधपूर्ण कृति। जिस पर देश के विभिन्न प्रांतों के लगभग 150 से अधिक मूर्धन्य विद्वानों के समीक्षात्मक श्लाधनीय अभिमत प्राप्त हुए । जिसके अध्ययन से विद्वान जगत को एक सम्यक्दिशा का बोध मिला ।

3.	**सम्यग्दर्शन**	35	128

प्रथम शोधात्मक कृति, जिसमें सम्यग्दर्शन विषयक अनेकानेक शंका-समाधानों तथा अगमिक और आध्यात्मक भाषा के द्वारा सराग-वीतराग, निश्चय-व्यवहार, प्रथमोपशम, द्वितीयोपशम आदि लाक्षाणिक भेद-प्रभेद, उत्पत्ति आदि गहन विषयों का लगभग 54 आगमोपदिष्ट शास्त्रों के 322 उद्धरणों से पूरित, मिथ्यात्वांधकार का विनाश कर आत्मरुचि रूप सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करनेवाली अमूल्य कृति है।

4. **आगम चक्खू साहू** 25 135

दिगम्बर मुनियों की समाचार विधि, आर्यिका चर्या, पात्रभक्ति तथा यज्ञोपवीत संबंधी विषयों पर देश-समाज-संघ की पंथ-परम्परा के हठाग्रह से दूर, लगभग 50 ग्रंथों के सूक्ष्म अध्ययन से निकाले गए 257 उद्धरणों से परिपूर्ण साधु-साध्वियों की तत्ववार्ता रूप में एक अतिशयवान आगमोक्त शोधपूर्ण कृति ।

5. **सल्लेखना से समाधि** 30 178

आराधना, समाधि सल्लेखना विषयक लगभग 168 विषयों पर, भगवती आराधना आदि 25 शास्त्रों के खोजपूर्ण, अनेकानेक उद्धरणों से युक्त, मृत्यु महोत्सव की कला सिखाने वाली शोधपूर्ण अद्‌भुत कृति। जिसमें क्षपक, निर्यापकों तथा निर्यापकाचार्य की क्रियाविधि, सल्लेखना-आत्मघात नहीं आदि भ्रान्तियों का निर्सन करनेवाली सुन्दर यह प्रस्तुत कृति अति प्रशंसनीय है।

6. **संत साधना के प्रेरक प्रसंग** 20 80

साधना काल के दौर मे गुजरते महत्वपूर्ण निज अनुभवों, प्रसंगों का लेखन । जिसमें साधक के पूर्व व पश्चात परिणति, आत्मप्रभावना से दूर धर्मप्रभावना ख्याति की भावना क्यो ? कैसे होती है ? इन सब वास्तविक स्थितियों का अनुभव परक लेखन है ।

7. **परम दिगम्बर जैन मुनि** 45 150

सम्प्रति काल में दक्षिणभारत जैसे देश के अनजान लोगों के लिए दिगम्बर संतों की अचल साधना - आराधना, परिचर्या, गरिमा-महिमा तथा उनके सम्मान व निंदा के फलों के परिज्ञान हेतु लगभग 68 ग्रंथों के तथा अन्य पत्रकों का आलेखन कर अथाह कठोर प्रयास से इस शोधपूर्ण

सं.	नाम	मूल्य	पृष्ठ
	कृति का सृजन हुआ। जिसमें हिन्दू, इस्लाम, -सिक्ख, बौद्ध आदि धर्मों ने भी दिगम्बर मुनियों का समय-समय पर सम्मान किया है इसका विवरण है ।		
8.	**सर्वोदयी दिगम्बर जैन धर्म**	30	88
	यह कृति जैनधर्म का गागर में सागरवत् संक्षिप्त परिचय के साथ ग्रंथों-पुरणों-कुरानों, उपनिषदों, इतिहास के पन्नों, प्राचीन-पुरातत्व विभागों, दर्शनों तथा विदेशी विद्वानों की दृष्टि में भी शाश्वत दिगम्बर जैन धर्म का सार्वभौमिक सम्मानीय अस्तित्व को उजागर करनेवाली अपूर्व दीपस्तंभ सदृश । पू. गुरुवर द्वारा लिखित धर्म की असीम व्याख्याओं से परिपूर्ण है।		
9.	**तीर्थंकर दिव्य दर्शन**	30	178
	हमारें तीर्थंकर भगवतों के जीवन चरित्र से परिचित/अवगत कराने वाली लगभग 200 प्रश्नों के समाधान एवं त्रेसठ शलाका पुरुषों के विषय में विस्तृत अनेक ग्रंथों के प्रमाणों से पूर्ण जानकारी के साथ यह एक अनमोल, सारगर्भित कृति है ।		
10.	**तीर्थंकर दर्शन**		
	तीर्थंकर दिव्य दर्शन पर ही आधारित 24 तीर्थंकरों के परिचय से परिपूर्ण लघु कृति है ।		
11.	**व्यसन विचार**	25	102
	व्यसन मुक्ति के मार्ग का दिग्दर्श कराने वाली हिन्दी, मराठी, इंग्लिश, भाषाओं में रुपान्तरित सामाजिक उत्थान की दृष्टि से महत्वपूर्ण कृति है जिस में व्यसन से होनेवाली हानियों तथा उनमें प्रसिद्ध व्यक्तियों की भयानक स्थितियों का चित्रण, आगम--विज्ञान तथा महापुरुषों के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है ।		
12.	**फूल नहीं, है काटें**		50
	सप्त व्यसनों का ज्ञान, त्याग से लाभ, हानि, संबंधित कथाओं का विवरण ।		
13.	**संस्कार सुरभि**	18	87

सं.	नाम		मूल्य	पृष्ठ
	बालकों के लौकिक विकास के साथ नैतिक विकास में सहायक एक सुरभिवत् बेहतरीन कृति है जिस में माता-पिता एवं बालकों के जीवनोपयोगी दैनिक चर्या तथा कर्तव्यों, संस्कारो का सम्यक् प्रकार से बोध कराया गया है ।			
14.	**जिनेन्द्र दर्शन-जिनेन्द्र पूजन**		10	58
	एक श्रावकोचित् प्रभावक कृति, जिसमें सद्गृहस्थ के आवश्यक करने योग्य भगवान के दर्शन-पूजन की सागोपांग विधि का वर्णन है ।			
15.	**आध्यात्मिक शंका-समाधान**		30	140
	शोधात्मक/खोजात्मक आयामों से परिपूर्ण, पक्षव्यामोह, दुराग्रह से दूर आगमोक्त अध्यात्म में प्रवेश करानेवाली एक लघु कुंजीवत्, साधकोपयोगी शोधपूर्ण कृति है । जिसमें नय, निश्चयनय, व्यवहारनय आदि 12 विषयों का पूर्ण विवरण 358 प्रश्नो के समाधान रुप में लगभग 42 शास्त्रों के अन्वेषणपूर्ण मनन से किया गया है ।			
16.	**आध्यात्मिक तत्त्व-चर्चा**		15	84
	आगम और अध्यात्म के विवादाग्रस्त विषयों पर तुलनात्मक अध्ययन रुप में एक वार्ता । जिसमें मुख्यत: मोक्ष मार्ग विषयक 17, सम्यकत्व विषयक 45, स्वात्मानुभूति विषयक 56-62 तथा स्वरुपाचरण विषयक 63-83, शंकाओं का समाधान काल्पनिक युक्ति से दूर, आगम प्रमाणों से किया गया है । इस कृति का उद्देश्य शिष्यों तथा साधकों को ठोस ज्ञान से परिपक्व कराना है ।			
	चिंतन साहित्य			
17.	**चैतन्य चिन्तन**	भाग-1	15	100
		भाग-2	15	100
		भाग-3	15	104
	साधकोचित् पू. गुरुवर के निज आत्मचिंतन की सरिता से उद्भूत हुए रत्नों सम चिंतवनों का लेखन ।			
	बालोपयोगी साहित्य			

सं.	नाम		मूल्य	पृष्ठ
18.	बाल विज्ञान	भाग-1	10	37
	(हिन्दी, इंग्लिश	भाग-2	10	56
	मराठी, कन्नड)	भाग-3	10	56
		भाग-4	10	84

धर्म परिज्ञान के प्रथम सोपान रुप में बालकों तथा युवाओं के लिए प्रारंभिक क्रमशः जानकारी से परिपूर्ण कृति है । जो हिन्दी, इंग्लिश, मराठी, कन्नड भाषा में रुपान्तरित हो जन-जन में लोकप्रिय है ।

19.	कर्म विज्ञान	भाग-1		40
		भाग-2		44
		भाग-3		44

हिन्दी, इंग्लिश भाषा में उपलब्ध, करणानुयोग में प्रवेश करने के इच्छुक स्वाध्याय प्रेमियों के लिए यह प्रथम पायरी है जिसमें कर्मसिद्धांत विषयक प्रारंभिक विषयों का सरल ढंग से लेखन किया गया है ।

कथा साहित्य

20.	नैतिक कथा मंजूषा	भाग-1		85
		भाग-2		122
		भाग-3		

आगमोक्त रुचिकर कथाओं का जनमानस में परिज्ञान कराने के लिए विभिन्न शास्त्रों से संकलित कर शिक्षाप्रद-बोधपूर्ण रुप में लिखी गई कथाओं का संग्रह । जिससे समाज में नैतिकता-धार्मिकता का विकास हो सके ।

अनुवाद साहित्य

21.	वारसाणुपेक्खा			144

आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी रुचित वारसाणुवेक्खा ग्रंथ का सरल सुबोध अनुवाद ।

22.	परमरत्नार्चना संग्रह		20	129

विनयपाठ से अर्धावलि, विसर्जन पाठ तक संपूर्ण पूजा विधि का अर्थ-अनुवाद ।

सं.	नाम	मूल्य	पृष्ठ
23.	सामायिक पाठ संपूर्ण आद्योपांत सामायिक विधि एवं सामायिक पाठ का अन्वयार्थ तथा भावार्थ ।	10	48
	पद्य साहित्य		
24.	भावों के विशुद्ध क्षण साधना काल के अ मूल्य विशुद्ध अनुभवों - क्षणों का पद्य रचना लेखन ।	15	104
25.	मुक्ताज्जलि - भाग -1,2 अनेकानेक शिक्षापूर्ण मुक्तकों के लेखन का संग्रह ।		
26.	नव देवता निर्वाण क्षेत्र पूजा पू. गुरुवर द्वारा रचित नवदेवता निर्वाण क्षेत्र पूजा ।		
	संकलित/सम्पादित साहित्य		
27.	साधना से समाधि समाधि सल्लेखना के समय महत्वपूर्ण हिन्दी पाठ-स्तुतियों का संकलन।	20	123
28.	विमल नित्य पाठावलि जिनेन्द्र पूजन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि विषयों का संक्षिप्त रुप से संकलन ।	25	200
29.	आराधना श्रमणों व श्रावकों द्वारा किये जाने वाले नित्योपयोगी संस्कृत के पाठों का संकलन ।	10	
30.	सुभाषित सहस्त्रं नैतिक व धार्मिक मर्मों से परिपूर्ण सहस्त्र सुभाषित गाथाओं का संकलन ।	40	336
31.	आप्त अर्चना जिनेन्द्र पूजन - पाठ आदि का संकलन ।		

सं.	नाम	मूल्य	पृष्ठ
32.	मानतुंग की अमर भक्ति (सचित्र भक्तामर)	65	100
	भक्तामर स्तोत्र के काव्यों, यंत्रो-मंत्रो के सचित्र सुन्दर चित्रण ।		
33.	साधना	10	
	जनोपयोगी हिन्दीभाषा के अनेक पाठों का संकलन ।		
34.	अनुप्रेक्षा	10	40
	आत्मचिन्तनोपयोगी अनित्यादि बारह भावनाओं की गाथाओं का अर्थ सहित संकलन ।		
35.	जिनागम दीप	251	728
	आगम के नित्य पठनीय 25 ग्रन्थों का अर्थ सहित सम्पादान ।		
36.	सम्मेद शिखर विधान		
	तीर्थराज सम्मेदशिखर जी विधान का संकलन ।		
37.	चारित्र शुद्धि व्रत	25	140
	चारित्रशुद्धि व्रत की पूजा, जाप तथा कथादि की जानकारी का संकलन।		
38.	करुणामूर्ति संत		341
	करुणा अवतारी प. पू. आचार्यश्री 108 विमलसागरी जी महाराज की जीवनी का संकलन ।		
39.	तपस्वी सम्राट		72
	तपस्वी सम्राट प. पू. आचार्य श्री 108 सन्मतिसागर जी महाराज की जीवनी का लेखन ।		
40.	यज्ञोपवीत विधि	25	
	यज्ञोपवीत संस्कार विधि की उपयोगिता, महिमा तथा ग्रहण विधि का संकलन ।		
41.	साधना के सोपान		

एकांकी/नाटक साहित्य

42.	सत्यमित्र-सत्यदृष्टि		

सं.	नाम	मूल्य	पृष्ठ
	पू. गुरुवर द्वारा रचित पात्रों की मुख्यता से नाटक का लेखन ।		
43.	**प्रद्युम्न हरण**		
	प्रद्युम्न हरण नामक नाटक का लेखन, जिसमें पात्रों के पाठों का अलग-अलग विवरण है ।		
	पू. आचार्य श्री पर आधारित साहित्य		
44.	**विरागाभिवंदन अभिनंदन**		
	सर्वाधिक पृष्ठोंवाला, विभिन्न स्तरीय साधकों, भक्तगणों आदि के पू. गुरुवर की आलौकिक व्यक्तित्व छटा पर हृदयोद्गारों का संकलित, सचित्र/राष्ट्रीय रजत मुनि दीक्षा वर्ष की बेला में प्रकाशित वृहद् दर्पण जीवन ।		
45.	**निस्पृही संत** भाग-1	60	243
	जन्म से सम्प्रतिकाल तक के संपूर्ण जीवन-चरित्र का साहित्यिक सुबोध लेखन ।		
46.	**विरागसेतु (महाकाव्य)**	100	344
	प्राकृत भाषा की पद्य रचना से गुंथित पू. गुरुवर के आदर्शमयी जीवन पर महाकाव्यमयी रचना ।		
47.	**संत काव्य की परम्परा में आचार्य विरागसागर**	65	175
	पू. गुरुवर के व्यक्तित्व व कृतित्व पर डी. लिट् उपाधि से पुरस्कृत डॉ. लोकेश खरे की एक अद्भुत शोधपूर्ण कृति ।		
48.	**कमल से महाकमल**		
	अरविन्द से आ. विरागसागर तक की जीवन यात्रा का लघु प्रभावक लेखन ।		
49.	**घटनायें ये जीवन की**	80	336
	सम्पूर्ण जीवन में घटी अनेकानेक रोचक महत्वपूर्ण घटनाओं का लेखन।		
50.	**दिगम्बरत्व के चितेरे**	150	

सं.	नाम	मूल्य	पृष्ठ
	सचित्र, बालगोपाल को आकर्षित करनेवाला कॉमिक्स रुप में जीवन चरित्र ।		
51.	विराग सिंधु की उर्मिया	15	91
	पू. गुरुवर की अनुपम जीवनी पर आधारित सरस-सरल काव्य रचना ।		
52.	विराग वाटिका	41	154
	पू. गुरुवर द्वारा दीक्षित शिष्य-सुमनों का सविस्तृत सचित्र परिचय ।		
53.	भक्ति की झंकार	25	158
	गुरुभक्ति से पूरित धार्मिक बहुताधिक भजन-गीतों का संग्रह ।		
	प्रवचन साहित्य		
54.	धर्म पीयूष	30	136
	दशलक्षण पर्व में उत्तमक्षमादि दस धर्मों पर मुखित पीयूष वाणी का संकलन ।		
55.	ऐसे चलो मिलेगी राह	40	180
	दिशाविहीन जीवन को सम्यक् दिशा बोध करानेवाले मार्मिक प्रवचनों का संकलन ।		
56.	दूर नहीं है मंजिल	30	227
	निज ध्येय का बोध करा मंजिल तक पहुँचाने (मोक्ष) वाले सारगर्भित प्रवचनों का संकलन ।		
57.	उड़ रे पंछी		
	पू. गुरुवर के मुखारविंद से गुंजित प्रवचनों का संकलन ।		
58.	तीर्थंकर वर्धमान	15	80
	भग. महावीर स्वामी का विभिन्न दृष्टियों एवं आगम के परिप्रेक्ष्य में जीवन परिचय ।		
59.	पहले देव पूजा फिर काम दूजा	25	180

सं.	नाम	मूल्य	पृष्ठ
	जिनेन्द्र प्रभु की पूजा, अर्चना विधि के महत्व को उजागर करनेवाले प्रवचनों का संकलन ।		
60.	**तीर्थंकर ऐसे बनो**	60	157
	तीर्थंकर प्रकृति बंध में हेतु सोलहकारण भावनाओं का संकलित सविस्तृत प्रवचन ।		
61.	**तट की ओर**	54	
	हृदयस्पर्शी, जीवन की सच्चाई का दिग्दर्श कराने वाले प्रवचनों का संकलन ।		
62.	**सीर्फ दो प्रवचन**	10	
	महत्वपूर्ण विशेष प्रवचनों का संकलन ।		
63.	**इष्टोपदेश**		
	अध्यात्मप्रेमियों के आध्यात्मिकता के विकास में सहायक इष्टोपदेश ग्रंथ पर संकलित प्रवचन ।		
64.	**मानतुंग की अमरभक्ति**	150	241
	भक्तामर स्तोत्र पर भक्ति से ओतप्रोत, भावभीने प्रवचनों का संकलन।		
65.	**कल्याणक महोत्सव**	20	104
	अनेकानेक स्थानों पर हुए गर्भादि कल्याणकों के विशेष प्रवचनों का संग्रहीकरण ।		
66.	**दान तीर्थ**	20	88
	आहारदान की आद्योपांत महिमा, विधि, गुण, दोष, पात्र, फल आदि का वर्णन ।		
67.	**धर्म के दश सोपान**	20	105
	दशधर्मों के प्रवचनों का सरस-संक्षिप्त संकलन ।		
68.	**जीवों पर दया करो, शुद्ध शाकाहार करो**	20	106

सं.	नाम		मूल्य	पृष्ठ
	अहिंसा शाकाहार सम्मेलनों में हुए आगमिक व वैज्ञानिक तुलनात्मक प्रवचनों का संकलन ।			
69.	**बुराईयाँ ही जेल, अच्छाईयाँ ही मुक्ति**		10	45
	विभिन्न जेलों में हुए, अपराधबोल कराने वाले मार्मिक प्रवचनों का संकलन ।			
70.	**प्रवचन वर्षा**		15	121
	महत्वपूर्ण वर्षभर के जैन पर्वों पर होनेवाले उपदेशामृत का संकलन।			
71.	**कर्तव्य मेव कर्तव्यं**		25	120
	श्रावकों के षडावश्यक कर्तव्यों पर आधारित हृदय उद्‌गारों का संकलन ।			
72.	**श्रद्धा प्रसून**		25	128
	मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के प्रवचनों का संकलन।			
73.	**मोक्ष की राह**			125
	मोक्षपथिकों को मोक्षपथ का पाथेय प्रदान करने रूप प्रवचनों का संकलन ।			
74.	**विरागामृत**			150
	पू. गुरुवर की अमृतवाणी से मुखरित अनेक विषयों पर संकलित उद्धरण ।			
75.	**समाधि तंत्र**			
	अध्यात्मरस से परिपूर्ण समाधि ग्रंथ पर हुए सविस्तृत प्रवचनों का संकलन ।			
76.	**समयोचित शिक्षायें**	भाग-1	20	105
		भाग-2	20	46
		भाग-3	20	58

सं.	नाम	मूल्य	पृष्ठ
	व्यक्तित्व विकास में कारण, समय-समय पर दी गई अमित शिक्षाओं का संकलन ।		
77.	**विराग मंथन**	5	32
	लघु, पर ज्ञान को विकसित करने वाली आकर्षिक उद्धरणों से पूरित कृति।		
78.	**रजत पुष्प**	51	184
	सद्‌गुणों के विकासादि विषयों से परिपूर्ण जनोपयोगी प्रवचनों का संकलन ।		
79.	**कहानी सबसे सुहानी**	30	240
	पू. गुरुवर के प्रवचनों में से संकलित मनभावन कहानियों का संकलन।		
80.	**अक्षय निधि**	10	36
	हृदय पर सीधा प्रभाव करने वाले गूढ़रहस्यात्मक प्रवचनों का संकलन।		
81.	**संस्कार की लहरें**	20	85
	नैतिक तथा धार्मिक सुसंस्कारों की सुरभी से महकित प्रवचनों का संकलन ।		
82.	**चलो चले प्रभु दर्शन को**	30	88
	आगमिक तथा वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर प्रभुदर्शन की आद्योपांत विधि रूप प्रवचन ।		
83.	**आध्यात्मिक धर्म प्रवचन**		147
	दशलक्षण धर्म से संबंधित गाथाओं, कहानियों, मुक्तकों तथा उद्धरणों का विस्तृत प्रवचन संग्रह ।		
84.	**घर-घर की कहानी**		103
	पारिवारिक एक-दूसरे सदस्यों के कर्तव्यबोध करानेवाले प्रवचनों का संकलन।		
८५.	**पयूर्षण निधि -**		